'ॐ श्री साई राम'

श्री सत्य साई सेवा संगठन ,मध्यप्रदेश

द्वारा बालविकास गुरुओं एवं समूह 2 एवं 3 के छात्रों हेतु ई -बुक

श्री सत्य साई बाल विकास गुरु मार्गदर्शिका

श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों की व्याख्या

समूह तृतीय

अपनी बात

संसार के समस्त गुरुओं के गुरु, परमपिता परमात्मा भगवान श्री सत्य साई बाबा के चरण कमलों में पूर्ण भक्तिभाव से समर्पित - लगभग दो वर्ष पूर्व मेरे मन में प्रेरणा हुई कि बाल विकास गुरुओं की सुविधा के लिए मैं "श्रीमद्भगवद्गीता" के उन श्लोकों की व्याख्या करूं, जो पाठ्यक्रम में हैं। मैं इसे ईश्वर की एक लीला समझती हूँ कि जैसे ही द्वितीय अध्याय सांख्य योग के उन श्लोकों की व्याख्या पूरी हुई, जो बाल-विकास पाठ्यक्रम में थे, कि ज्ञात हुआ, वे सारे श्लोक पाठ्यक्रम से हटा दिए गए हैं मुझे लगा कि शायद मेरे मन में अहंभाव था कि मैं यह कार्य कर रही हूं, इसलिए ऐसा हुआ। मैं स्वामी से प्रार्थना करने लगी कि मैं फिर से नए पाठ्यक्रम के अनुसार लिखूगी। लिखवाने वाले तो आप ही हैं, मेरी इतना सामर्थ्य कहाँ? आप ही इसे पूरा करेंगे तथा बाल विकास कक्षाओं में शिक्षण के लिए मान्यता दिलाएंगे।

उसके पश्चात पुनः लिखना प्रारम्भ कर दिया। प्रारम्भ में 'ज्ञान' से सम्बन्धित दो श्लोकों की व्याख्या कर पाई थी कि सूचना मिली 'स्वामी ने मध्यप्रदेश के विकास विद्यार्थियों तथा गुरुओं पर अपना अनुग्रह किया है, उन्होंने 'दर्शन व आशीर्वाद' के लिए 20 से 25 जून, 1996 की अवधि दी है। मैं पूर्ण उत्साह से बाल विकास छात्राओं को लेकर प्रशान्ति निलयम पहुँची। अपना रजिस्टर साथ ले गई। प्रतिदिन स्वामी से प्रार्थना करती, प्रभो! मेरी प्रार्थना स्वीकार करो, इसे आप ही पूरा करवाएंगे। कक्षाओं में शिक्षण के लिए स्वीकृति देंगे।'

25 जून को स्वामी ने सब पर अपना अनुग्रह किया, अपार प्रेम बरसाया। दिव्य चरण कमलों के स्पर्श दिए। मेरे हाथ में मेरा रजिस्टर था। प्रभु, मन्द-मन्द चलते हुए आए,

चरण स्पर्श दिए और अपना वरद-हस्त लगभग कोरे रजिस्टर पर रख दिया। मेरा रोम-रोम आनंद से रोमांचित हो उठा। वहाँ से वापस आकर मैंने यह लेखन कार्य स्वामी की कृपा से प्रेरणा से पूरा किया और अब समस्त बाल-विकास गुरुओं के समक्ष प्रस्तुत है।

मुझे आशा है कि सब इससे उचित मार्गदर्शन प्राप्त करेंगे इसमें जो भी है, विशुद्ध ईश्वर-वाणी है।

जय साई राम।

श्रीमती सुनीता श्रीवास्तव 308,
समता कॉलोनी रायपुर (म.प्र.)
492001

"इसमें मेरा कुछ नहीं, जो कुछ है सब तोर। तेरा तुझको सौंप के क्या लागा है मोर।।

ॐ श्री साई राम

आभार - उद्गार

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निकली है श्रीकृष्ण ने गीता की विद्या सर्वप्रथम विवस्वान् को दी। विवस्वान सूर्यदेव को कहा जाता है। योग्य शिष्य वही है, जो गुरु की शरण में हो, गुरु की इच्छा से चले। सूर्य सदैव ही ईश्वरीय आदेश पर चलता है। ईश्वर के नियंत्रण में रहता है, इसलिए सबसे पहले भगवान ने सूर्य से इस ज्ञान को कहा।

त्रेता युग के प्रारम्भ में सूर्य देव ने ईश्वर सम्बन्धी इस ज्ञान को मनु से कहा। मनु सूर्य देव के पुत्र थे। यह ज्ञान मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया। उस समय इक्ष्वाकु पृथ्वी पर राज्य करते थे। ये रघुवंश के पूर्वज थे। भगवान श्रीराम रघुवंश में ही अवतरित हुए।

इस प्रकार गीता का उपदेश कम से कम 12,04,00,000 वर्ष पहले अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में ही कहा गया।उसके पश्चात् फिर से द्वापर युग में जब भगवान ने धरती पर अवतार लिया तब आवश्यकता पड़ने पर कुरूक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को शिष्य स्वीकार करते हुए फिर से गीता का उपदेश कहा। यह लगभग 5,000 वर्ष पहले की बात है।

यद्यपि गीता का उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था पर वह तो निमित्त मात्र थे। वास्तव में गीता का उपदेश पूरी मानव जाति के लिए है। प्रत्येक उस मनुष्य के लिए है, जो ईश्वर में विश्वास रखता है। ईश्वरीय आदेशों में श्रद्धा रखता है। उसी के आदेशानुसार आचरण करना चाहता है।

इसके लिए देश, काल, धर्म, जाति, संप्रदाय आदि की कोई सीमा नहीं। गीता का एक श्लोक ही मनुष्य के जीवन को बदलने के लिए पर्याप्त है, यदि वह उसे अपने आचरण में उतार ले। श्री गीता में सभी वेदों का सार है। यह स्थूल भौतिक जगत व सूक्ष्म आध्यात्मिक जगत के तत्वों को समझती है। मानव समाज व मानव मन के बारे में बताती है। मनुष्य को जीने के लिए एक विशिष्ट जीवन शैली प्रदान करती है, जो कि आज के वातावरण में अशांत समय में नितांत आवश्यक है। आज की पीढ़ी के लिए गीता रामबाण औषधि है, संजीवनी बूटी है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली मनुष्य का आंतरिक शुद्धिकरण नहीं करती। उसका आध्यात्मिक विकास नहीं करती। सब जगह अनैतिकता, अव्यवस्था, स्वार्थपरता और निराशा का वातावरण है। ऐसे समय में आदर्श, कर्मठ, सेवाभावी, देशभक्त विद्यार्थियों की आवश्यकता है, क्योंकि आज का विद्यार्थी ही कल का आदर्श नागरिक है।

पवित्र आदर्शों की शिक्षा देने, जीवन मूल्यों को सिखाने के लिए भगवान श्री सत्य साई बाबा के आदेशानुसार श्री सत्य साई संगठन की ओर से बाल विकास कक्षाओं का संचानल किया जाता है। पाठ्यक्रम में गीता के कुछ विशेष श्लोक चुनकर रखे गए हैं, ताकि आज के विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करके अपने हृदय पवित्र बना सकें, प्रेम भावना का विकास करके निःस्वार्थ भाव से समाज की उपयुक्त सेवा कर सकें।

यदि विद्यार्थी इन श्लोकों को, उनके अर्थ को श्रद्धा व लगन के साथ परिश्रम से समझें, मनन करें। श्लोकों में निहित अर्थ को, उसके संदेश को अपने दैनिक जीवन में व्यवहार में लाएं तो निश्चित ही उनकी आध्यात्मिक प्रगति होगी जीवन का स्तर श्रेष्ठ होगा।

इस कार्य के लिए भगवान श्री सत्य साई बाबा ने हमारी रायपुर की बहन श्रीमती सुनीता श्रीवास्तव को यह प्रेरणा दी कि वह बाल विकास ग्रुप तीन के पाठ्यक्रम में प्रस्तुत गीता

के श्लोकों की व्याख्या मार्मिक रूप से प्रस्तुत करें। उनके अथक प्रयास व निष्ठापूर्वक लगन के परिणामस्वरूप ही इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक सभी हिन्दी प्रदेशों के बाल विकास गुरुओं के अपने कर्तव्य सम्पादन में सहायक सिद्ध होगी, ऐसी मेरी अटूट मान्यता है।

गुरु पूर्णिमा 98 पर भगवान के श्रीचरणों में प्रस्तुत है।

इन्दौर 9 जुलाई 1998

सुरेन्द्र कुमार सचदेव

प्रान्ताध्यक्ष

शिक्षण - पद्धति

https://app.geniusteacher.in/student/home

गीता के श्लोक विद्यार्थियों को इस प्रकार से समझाए जाने चाहिए ताकि श्लोकों में निहित संदेश उनके अंतर्मन में गहराई से पहुँच जाएँ।

उदाहरण के लिए भगवान श्रीकृष्ण के एक संदेश को लेते हैं। उन्होंने अर्जुन से कहा, ”समत्वम् योग उच्यते” (समत्व ही योग है) अब जनमानस इसे अच्छी तरह समझ सके तो वेदव्यासजी ने उसे विस्तार से समझाया। उन्हेंने अपनी प्रतिभा द्वारा इस एक सूक्ति को 12 श्लोकों के द्वारा समझाया।

जब बाल विकास गुरु अपने छात्रों को भगवद्गीता का कोई श्लोक समझाती हैं तो उसे शुद्ध उच्चारण के साथ गान-शैली में याद कराना चाहिए। शुद्ध उच्चारण के लिए गुरु को संस्कृत का प्रारम्भिक ज्ञान जरूरी है। जहाँ कई शब्दों को मिलाकर एक शब्द बना हो वहाँ संधि-विच्छेद द्वारा उन्हें अलग कर देना चाहिए। ऐसा करने पर अर्थ सरलता से समझ में आता है।

उदाहरण के लिए कर्मण्येवाधिकारस्ते का संधि-विच्छेद है ’कर्मणि+एव+अधिकारः+ते’ अर्थ हुआ तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है। जिन्होंने संस्कृत न पढ़ी हो, वे संधि व कारक रचना विभक्ति आदि का ज्ञान प्राप्त कर लें तो अर्थ अच्छी तरह समझा सकते हैं।

पहले श्लोक याद कराना चाहिए। प्रत्येक शब्द का अलग-अलग अर्थ बताना चाहिए। फिर श्लोक का हिन्दी अनुवाद बताना चाहिए। उसके पश्चात् विस्तार से उसका आंतरिक अर्थ समझाते हुए व्याख्या करनी चाहिए। साथ में कोई कहानी या दृष्टांत जोड़ना चाहिए। यदि सम्भव हो तो कोई मूल्य-परक प्रयोग भी बताया जा सकता है। सारा तारतम्य कुछ इस प्रकार होना चाहिए कि विद्यार्थी उसे गहराई से आत्मसात करें व संदेश को अपने दैनिक व्यवहार में लाने के लिए तत्पर हो जाएँ।

***

ज्ञान

1. श्लोक -

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विंदति।।4-38।।

शब्दार्थ -

न - नहीं,

हि - निश्चित ही,

सदृशं - समान,

इह - यहाँ (इस संसार में),

विद्यते - हैं.

तत् - उस ज्ञान को

स्वयं - अपने आप,

योगसंसिद्ध - समत्व बुद्धि रूपी योग के द्वारा पूर्णत्व को प्राप्त व्यक्ति,

कालेन - कुछ समय बाद,

आत्मनि- स्वयं में,

विदंति- अनुभव करता है

संदर्भ - यह श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय का अइतीसौं श्लोक है। श्री गीता का चतुर्थ अध्याय ज्ञानयोग कहलाता है।

प्रसंग - कौरव और पाण्डवों के बीच होने वाले युद्ध के समय कुरूक्षेत्र के मैदान में दोनों ओर की सेनाएँ रणनाद की प्रतीक्षा में डटी खड़ी थीं। अर्जुन किंकतव्यविमूढ़ थे, उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वे युद्ध कैसे करे? दोनों ओर की सेना में उनके ही सगे सम्बन्धी व गुरुजन थे। जिस पक्ष में भी लोग मारे जाते हैं वे उन्हीं के सगे सम्बन्धी होंगे। यही विचार करते हुए और मोहग्रस्त होने के कारण वे दुविधा में पड़ गए थे। निराश होकर उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण की शरण ली, जो कि उस समय उनके सारथी बने हुए थे।

संशय में घिरे अर्जुन ने श्रीकृष्ण से अनेकों प्रश्न पूछे, जिनका समाधान श्रीकृष्ण ने किया। उन्होंने समझाया कि देह भौतिक है, नश्वर है, क्षणभंगुर है। जो नष्ट होने वाली है. वह मिथ्या है। नष्ट होने वाली वस्तुओं के लिए दुःख नहीं करना चाहिए।

यदि देह सक्रिय है, तो वह आत्म तत्व के कारण है। आत्मा कभी मरती नहीं। अजर है, अमर है. नित्य है, शाश्वत है तो फिर आत्मा के लिए तो दुःख करने का प्रश्न ही नहीं।

संसार में जो कुछ घटित होता है वह सब ईश्वर की इच्छा से होता है मनुष्य तो निमित्त मात्र होता है।

अर्जुन ने पूर्ण शरणागति के साथ भगवान श्रीकृष्ण से कहा कि, ”आप मेरा मार्गदर्शन करें। मुझे वह मार्ग समझाएँ जिससे मेरा कल्याण हो।

अब तक अर्जुन श्रीकृष्ण के केवल भक्त व सखा थे किंतु इस समय वे भगवान की शरण में आ गए थे। शिष्य जब पूरी तरह से अपने गुरु के प्रति समर्पित होता है तभी गुरु से समुचित ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण को यही अवसर उचित दिखा, जब अर्जुन को उपयुक्त शिक्षा दी जा सकती थी।

भगवान ने समझाया कि तुम्हें मन व इन्द्रियों को नियंत्रित करना चाहिए। समत्व भाव अपने चित्त में लाना चाहिए। अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करना चाहिए। क्षत्रियों का धर्म हाता हैं सत्य व धर्म की रक्षा करना। तुम्हें निःस्वार्थ व निष्काम भाव से अपने कर्तव्य कर्म करना चाहिए। निष्काम भाव से कर्म करने वाला कर्मयोगी होता है।

इसके पश्चात भगवान श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार के यज्ञों के विषय में बताया, जिन्हें साधक लोग सम्पन्न करते हैं किंतु उन्होंने बताया कि कर्मयोग से ज्ञानयोग ज्यादा श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मफल को उसी प्रकार भस्म कर देती है जिस प्रकार जलती हुई अग्नि ईंधन को समाप्त कर देती हैं। इस प्रकार मनुष्य जन्म मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

श्लोक का अर्थ - निश्चय ही इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाली वस्तु अन्य कोई नहीं है। समत्व बुद्धि रूपी योग के द्वारा सिद्ध हुआ मनुष्य कुछ समय पश्चात इस ज्ञान को स्वयं अपनी आत्मा में अनुभव करने लगता है।

व्याख्या - साधारणतया ज्ञान का अर्थ होता है जानना, किसी वस्तु को जानना, किसी विषय को जानना जैसे संगीत, चित्रकला, वनस्पति शास्त्र, गणित ऐसे ही अन्य विषय किन्तु इस तरह का ज्ञान भौतिक होता है, जो जीविकोपार्जन का साधन तो बन सकता है, किंतु मनुष्य को सच्चे मानवत्व की शिक्षा नहीं दे सकता। मानवत्त को माधवत्व में नहीं बदल सकता।

ज्ञान तीन प्रकार के होते हैं :-

1. साधारण ज्ञान।

2. सुजान अर्थात विवेकयुक्त ज्ञान।

3. प्रज्ञान या तत्व ज्ञान।

जब हम एक कुर्सी को देखते हैं तो साधारण ज्ञान के द्वारा जानते हैं कि यह कुर्सी है किंतु जब विवेक से सोचते हैं तो उसकी लकड़ी पर भी ध्यान देते हैं कि यह कौन-सी लकड़ी है।? सागौन की है बीजाकी' फिर यदि और गहराई से सोचें कि यह लकड़ी कहाँ से आई? वृक्ष से। वृक्ष प्रकृति का अंग है।

प्रकृति क्या है? प्रकृति परब्रहा परमात्मा की प्रकट अभिव्यक्ति हैं। ऐसी अनुभूति करने पर कुर्सी में भी उस परमात्म तत्व की अनुभूति होगी। यही तत्व ज्ञान है, दिव्य ज्ञान है।

इस ज्ञान के समान पवित्र कोई ज्ञान नहीं है. क्योंकि इसे पाकर मनुष्य पूर्णत्व को पा लेता है। उसे 'अहम् ब्रह्मास्मि' का बोध होने लगता है। वह समस्त जड़-चेतन में, यहाँ तक कि स्वयं में ईश्वरत्व का दर्शन करने लगता है आत्मा-अनात्मा के भेद को समझने लगता है। इस प्रकार वह पूर्ण ज्ञानी बन जाता है।

श्रीकृष्ण ने कहा है कि पूर्ण ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है तो साक्षात ईश्वर का स्वरूप बनने के लिए साधक को पहले योग संसिद्ध बनना पड़ेगा, अर्थात् स्थितप्रज्ञ बनना पड़ेगा। स्थितप्रज्ञ का अर्थ होता है वह मनुष्य जिसने अपने मन व इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया हो, सुख-दुःख, लाभ-हानि, विजय-पराजय सभी स्थिति में जो समभाव से रहता हो। विचलित या उत्तेजित न होता हो।

ऐसे मनष्य के अंदर अहंकार नहीं होता, वह अनासक्त भाव से रहता है। सदैव प्रसन्न रहता है। उसका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। ऐसी पवित्रता लाने के लिए व्यक्ति को पहले स्वाध्याय, जप, तप, ध्यान उपासना तथा योग अभ्यास करना पड़ता है। निःस्वार्थ सेवा करते हुए अपनी आत्मा का शोधन करना पड़ता है। जिस प्रकार शुद्धिकरण के लिए सोने को बार बार तपाया जाता है, वैसे ही ज्ञानी बनने के लिए इस प्रकार की साधनाओं के द्वारा स्वयं को तपाना पड़ता है।

साधना के द्वारा पवित्र हुआ व्यक्ति अपने ऊपर से अज्ञान का पर्दा हटा देता है। उसे अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती हैं। वह जान जाता है कि समस्त जड़-चेतन में एक ही परम चैतन्य या परम तत्व विद्यमान है, वही तत्व उसमें भी हैं। इस सत्य का आभास होते ही वह समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम से पूर्ण हो जाता है। उसके हृदय में करुणा समा जाती है। वह लोक कल्याण में जुट जाता है।

साधना के द्वारा पवित्र हुआ व्यक्ति अपने ऊपर से अज्ञान का पर्दा हटा देता है। उसे अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है। वह जान जाता है कि समस्त जड़-चेतन में एक ही परम चैतन्य या परम तत्व विद्यमान है, वही तत्व उसमें भी है। इस सत्य का आभास होते ही वह समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम से पूर्ण हो जाता है। उसके हृदय में करूणा समा जाती है। वह लोक कल्याण में जुट जाता है।

तो जिस ज्ञान को पाकर मनुष्य ऐसी दिव्य स्थिति तक पहुँच जाता है, भला उस ज्ञान की तुलना किससे की जा सकती है।

कहानी

प्राचीन काल में उद्दालक नाम के एक ऋषि थे। वे बहुत ज्ञानी थे। उनका श्वेतकेतु नाम का एक पुत्र था। वे अपने पुत्र को ब्रह्म ज्ञान देना चाहते थे किंतु उसे समझ में नहीं आता

था। उद्दालक ऋषि ने एक उपाय सोचा। उन्होंने बरगद का फल मंगवाया और श्वेतकेतु से तोड़ने के लिए कहा। श्वेतकेतु ने फल के दो भाग कर दिए और पिता के सामने रख दिए।

उद्दालक ने पूछा, "क्या तुम्हें फल के अन्दर कुछ दिखाई देता है?"

श्वेतकेतु ने कहा, "इसके अन्दर छोटे-छोटे से असंख्य बीज हैं।"

पिता उद्दालक ने फिर आज्ञा दी कि, "एक बीज इसमें से निकालो और उसके दो भाग करो।" श्वेतकेतु ने वैसा ही किया।

"इसके अन्दर कुछ दिखाई पड़ रहा है?"

"नहीं पिताजी! इसमें तो कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा।

उद्दालक बोले, बेटे! इस 'कुछ भी नहीं से इतना बड़ा वृक्ष कैसे बन सकता है। कुछ तो है और जो है वह अति सूक्ष्म है। तुम्हारी आँखें उस सूक्ष्म को देख नहीं सकतीं। वह सूक्ष्म सत्ता, अदृश्य शक्ति, दिव्य चैतन्य सबमें विद्यमान है जिसके कारण संसार में प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है. वृद्धि करती है, नष्ट होती है। वह शक्ति तुममें भी है तुम्हारे शरीर से बाहर समस्त ब्रह्माण्ड में भी हैं।

श्वेतकेतु ने कहा कि, "पिताजी। वह सब तो ठीक है किन्तु वह शक्ति जब दिखाई नहीं पड़ती तो उसकी अनुभूति करनी होगी। अनुभूति कैसे क?"

उद्दालक बोले, "ठीक है बेटा! आज रात को सोने से पहले एक गिलास पानी में नमक की ढेली डाल कर रख देना और सुबह उस गिलास को मेरे पास लेकर आना।"

आज्ञाकारी बेटे श्वेतकेतु ने वैसा ही किया।"बेटे अब तुम नमक को पानी में से निकालो।"

पिताजी! नमक तो पानी में घुल गया है। यह कैसे निकल सकता है?"

"अच्छा अब गिलास की ऊपरी सतह का पानी चख कर देखो।"

श्वेतकेतु ने पानी चखा और बताया कि पानी नमकीन है।

उद्दालक ऋषि ने कहा कि, "अब आधा गिलास खाली कर दो फिर बीच का पानी चख कर बताओ।" श्वेतकेतु ने बीच का पानी चखा और बताया कि ये पानी भी नमकीन है। ऋषि ने फिर नीचे के तल का पानी चखवाया, वह भी नमकीन था। कहने का तात्पर्य यह कि सारा पानी ही नमकीन था किंतु उसका स्वाद चखने पर ही मालूम पड़ा।

तब उद्दालक ऋषि ने समझाया कि "बेटे! जिस प्रकार इस सम्पूर्ण जल में नमक घुला हुआ है और उसका स्वाद चखने पर ही ज्ञात होता है, उसी प्रकार परमात्मा विशुद्ध चैतन्य के रूप में समस्त सृष्टि में व्याप्त है। वह अदृश्य शक्ति है, जो भौतिक नेत्रों से दिखाई नहीं पड़ती। इसके लिए अंतर्दृष्टि होनी चाहिए। परमात्मा की अनुभूति सतत साधना व अभ्यास से की जा सकती है। साधना-मार्ग बताने के लिए योग्य गुरु की आवश्यकता होती है।

परम आत्मा का ज्ञान ही वह दिव्य ज्ञान है जिसको पाने के लिए हमें मनुष्य जीवन उद्दालक ऋषि ने कहा कि, "अब आधा गिलास खाली कर दो फिर बीच का पानी चख कर बताओ।" श्वेतकेतु ने बीच का पानी चखा और बताया कि ये पानी भी नमकीन है। ऋषि ने फिर नीचे के तल का पानी चखवाया, वह भी नमकीन था। कहने का तात्पर्य यह कि सारा पानी ही नमकीन था किंतु उसका स्वाद चखने पर ही मालूम पड़ा।तब उद्दालक ऋषि ने समझाया कि "बेटे! जिस प्रकार इस सम्पूर्णा जल में नमक घुला हुआ है और

उसका स्वाद चखने पर ही ज्ञात होता है, उसी प्रकार परमात्मा विशुद्ध चैतन्य के रूप में समस्त सृष्टि में व्याप्त है। वह अदृश्य शक्ति है, जो भौतिक नेत्रों से दिखाई नहीं पड़ती। इसके लिए अंतर्दृष्टि होनी चाहिए। परमात्मा की अनुभूति सतत साधना व अभ्यास से की जा सकती है। साधना-मार्ग बताने के लिए योग्य गुरु की आवश्यकता होती है। परम आत्मा का ज्ञान ही वह दिव्य ज्ञान है जिसको पाने के लिए हमें मनुष्य जीवन मिला है।

2. श्लोक -

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्धवा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति । । 4-39।।

शब्दार्थ -

श्रद्धावान	-	जिसमें श्रद्धा है वह मनुष्य
लभते	-	प्राप्त होता है।
ज्ञानं	-	को

तत्परः - उत्सुक या जिज्ञासु

संयतेन्द्रिय - इंद्रियों को वश में करने वाला

लब्धवा - प्राप्त करके

परां - श्रेष्ठ

शांतिम् - शांति

अचिरेण - तत्काल

अधिगच्छति - प्राप्त हो जाती है

संदर्भ - यह श्लोक भी श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय ज्ञान योग से लिया गया है। यह चतुर्थ अध्याय का उनतालीसवाँ श्लोक है।

प्रसंग - इसके पूर्व के श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण ने दिव्य ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। उस ज्ञान के समान पवित्र इस संसार में कुछ नहीं है। इसको पाकर मनुष्य के हृदय से सांसारिकता निकल जाती है। वह व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर सभी में ईश्वर की अनुभूति करते हुए सबके प्रति निःस्वार्थ प्रेम की भावना से ओत-प्रोत हो जाता है। भवसागर पार कर लेता है। जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इस श्लोक में श्रीकृष्ण दिव्य ज्ञान के पाने का उपाय बताते हैं और बताते हैं कि किस प्रकार उसको पाकर मनुष्य शांति प्राप्त कर लेता है।

श्लोक का अर्थ - 'श्रद्धावान लभते ज्ञानं अर्थात् जिस व्यक्ति में ईश्वर के प्रति दृढविश्वास है, जिसमें ज्ञान के प्रति उत्सुकता है, निष्ठा है, जिसने अपनी इंद्रियों को अपने वश में कर लिया है, उसे ज्ञान प्राप्त होता है और उस ज्ञान को प्राप्त करके उस व्यक्ति को तुरंत परम शांति प्राप्त होती है।

व्याख्या - ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस ज्ञान के प्रति निष्ठा या श्रद्धा होना आवश्यक है। स्वामी विवेकानंदजी ने भी कहा है कि, "श्रद्धा के बिना विद्या व्यर्थ है।" आस्था होनी चाहिए ज्ञान के प्रति और केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु प्रवृत्ति, दृढ़ संकल्प, लगन और निरंतर चलने वाला अभ्यास भी होना चाहिए।

बिना सतत् प्रयास के और बिना विश्वास के तो भौतिक ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता फिर यह तो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान की बात है आध्यात्मिक ज्ञान की बात है।

कई विद्यार्थी पूरे वर्ष अपना समय व्यर्थ बरबाद करते रहते हैं। अपने मन को इधर-उधर तुच्छ बातों में लगाए रहते हैं किंतु जब परीक्षा आती है तब खाना-पीना छोड़ देते हैं। रात की रातभर जागते हैं, पुस्तकें रटते रहते हैं, लेकिन परिणाम सुखद नहीं होता। आशा के अनुरूप अंक प्राप्त नहीं होते। कारण है निरंतर अभ्यास की कमी।

आध्यात्मिक ज्ञान के लिए तो निरंतर अभ्यास की अत्यधिक जरूरत होती है। दूसरी आवश्यकता है जिज्ञासु प्रवृत्ति का होना। जो ज्ञान प्राप्ति का आकांक्षी है उसे सुयोग्य गुरु की शरण में जाना चाहिए। विनम्र भाव से उसकी सेवा करनी चाहिए। समय-समय पर गुरु से प्रश्न करना चाहिए। बिना प्रश्न किए ज्ञान में प्रगति सम्भव नहीं है। गुरु की परीक्षा लेने के लिए प्रश्न नहीं करना चाहिए। साथ ही प्रश्न करने की योग्यता होनी चाहिए। प्रश्न किस प्रकार के किए जाएँ? आध्यात्मिक विषय में मनुष्य को चाहिए कि गुरु से वही प्रश्न करे, जो उसके हृदय से अज्ञान रूपी अंधकार को निकाल सके। इस दिव्य ज्ञान को प्राप्त करने के इच्छुक मनुष्य को अपने मन व इन्द्रियों को अपने

वश में करना चाहिए। मनुष्य में साहस व धैर्य भी होना चाहिए। अच्छे कार्यों में सदैव बाधाएँ आती हैं। यदि साहस व धैर्य का अभाव होता है तो मनुष्य स्वयं को निराश व निर्बल समझने लगता है। उसकी बुद्धि कुंठाग्रस्त हो जाती है और प्रगति रुक जाती है।

सांसारिक आकर्षणों और बुराइयों पर विजय पाते हुए आगे बढ़ते जाना चाहिए। विचलित नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार यदि दृढ़ निश्चय, सतत् अभ्यास के साथ अपने आपको ईर्ष्या, द्वेष, निराशा जैसे दुर्गुणों से दूर रखकर जो धैर्य के साथ साधना करता है, उसे निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त होता है। वह आत्म साक्षात्कार कर लेता है। आत्म साक्षात्कार प्राप्त होते ही तत्काल उसका मन शांत हो जाता है।

श्री रामकृष्ण परमहंस जी के विषय में सभी जानते हैं वे अपने मित्रों को बताया करते थे कि, "जब मैं परमात्मा का चिंतन करता हूँ तो उन्हें अपने हृदय में पाता हूँ। मैं ऐसा महसूस करता हूँ कि वे प्रेम से मुझे अपने पास खींच रहे हैं और तब मैं सुध-बुध खोकर आंतरिक आनंद और शांति का अनुभव करता हूँ।"

यह शांति दैवी शांति है, परम शांति है। आत्मा की मधुर तृप्ति है।

कहानी

स्वामी रामतीर्थ का नाम सभी ने सुना होगा। वे पंजाब के मुरलीवाला ग्राम में सन् 1873 में गोस्वामी ब्राह्मण कुल में जन्मे थे। इनका घर का नाम रामतीर्थ था। जन्म के कुछ समय बाद ही माता का स्वर्गवास हो गया. इसलिए पालन पोषण बुआ के पास हुआ। गाँव की पढ़ाई पूरी होने पर आपने भगत धनारामजी की देखरेख में गुजराँवाला में आगे पढ़ाई की।

यद्यपि अत्यधिक निर्धनता थी किंतु तीव्र प्रतिभा व साहस होने से उन्होंने गणित में एम.ए. कर लिया और उसी कॉलेज में प्रोफेसर बन गए।

बाबा नगीनासिंह वेदी नाम के संत का इनके जीवन पर बाल्यकाल में ही अत्यधिक प्रभाव पड़ा। आप सदैव आनंद में मग्न रहते थे किसी प्रकार की चिंता उन्हें सताती नहीं थी। मस्ती में आकर वे स्वयं को बादशाह कह देते थे। सवेरे-शाम घंटों रावी नदी के किनारे ध्यान में बैठे रहते। छुट्टियाँ होती तो मथुरा-वृंदावन पहुँच जाते। श्रीकृष्ण के प्रेम में मग्न बने रहते। उन्होंने उपनिषद व वेदों का अध्ययन भी किया।

दृढ़ वैराग्य ईश्वरीय प्रेम के कारण उनका हृदय एकदम पवित्र हो गया था। उन्हें आत्मसाक्षात्कार हुआ। सन् 1900 में उन्होंने प्रोफेसरी छोड़ दी। वन प्रांतों में अकेले मस्ती में घूमते रहना प्रिय था।

लोग उन्हें स्वामी रामतीर्थ कहने लगे। लोगों के ही आग्रह पर वे "विश्व धर्म परिषद् में भाग लेने जापान व अमेरिका गए। साक्षात आनंद का स्वरूप होने के कारण सदैव मस्त स्वभाव के कारण जो भी इन्हें देखता बहुत प्रभावित होता। यहाँ तक कि अमेरिकन समाचार पत्रों ने आपकी तुलना ईसा मसीह से की। बहुत लोगों ने उनसे दीक्षा ली। हजारों लोग प्रवचन सुनते। वे कहा करते -

"शरीर के तुच्छ मोह को छोड़ दो। इस क्षुद्र सीमा में घिर कर ही तुम क्षुद्र बन गए हो। शरीर से ऊपर उठो। अनंत ज्ञान, अनंत वैभव, अनंत ऐश्वर्य ही तुम्हारा स्वरूप है। उस व्यापक परम चैतन्य से अपने एकत्व का अनुभव करो।"

अपनी शिक्षाओं का वे स्वयं ज्वलंत उदाहरण थे। वे बड़े त्यागी थे। शरीर का मोह नाममात्र को भी नहीं था। सदैव चलते-फिरते, खाते-पीते हर समय परमात्मसत्ता के चिंतन में लीन रहते। परमात्मा से एकत्व की अनुभूति करते रहते।

ढाई वर्ष तक विदेशों में रहने के बाद आप भारत वर्ष वापस आ गए। भारत में लोगों को शिक्षा देते रहे। स्वयं सदैव आनंद में बने रहे।

सन् 1906 में दीवाली की प्रातःकाल उत्तराखंड में गंगा की जलधारा में डुबकी लगाकर प्रणवध्वनि के साथ एकाकार हो गए। दीवाली के दिन ही वे इस भौतिक संसार में आए थे दीवाली के दिन ही इस संसार को छोड़ दिया। इस भौतिक संसार में तो उनकी केवल भौतिक देह थी वरन् मन विचारों से तो वे सदैव आत्म-जगत में विचरण किया करते थे।

"जब स्त्रियों नौकरी करने के लिए घर छोड़कर जाएंगी तो घर में काम कौन करेगा? जब पति और पत्नी दोनों अपने दफ्तर जाएंगे तो बच्चों की देखभाल के लिए माताएँ कहाँ से आएँगी? जब माताएँ स्कूल में दूसरों के बच्चों को पढ़ाने जाएँगी तो उनके अपने बच्चों को कौन पढ़ाएगा? पैसे की तंगी दूर हो भी जाए तो घर में अन्य परेशानियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। सुख सुविधाओं के प्रयत्न में दफ्तर जाने वाली महिलाएं घर में खालीपन ही प्राप्त कर पाती हैं।"

साधना

1. श्लोक -

उद्धरेत् आत्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।6-5।।

शब्दार्थ -

उद्धरेत	-	उद्धार करें, उन्नति करें,
आत्मना	-	अपने द्वारा
आत्मानं	-	स्वयं का
अवसादयेत	-	पतन होने दे

न	-	नहीं
हि	-	क्योंकि
आत्मैव	-	आत्मा ही
आत्मनः	-	स्वयं का
बंधु	-	मित्र
रिपु	-	शत्रु

संदर्भ - यह श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता के छठवें अध्याय से लिया गया है। इस अध्याय को ध्यान योग कहा गया है क्योंकि इसमें साधना के वे उपाय बताए हैं जिनसे मनुष्य का ध्यान परमात्मा पर केन्द्रित होता है। यह छठवें अध्याय का पाँचवाँ श्लोक है।

प्रसंग - जैसा कि पूर्व में भी बताया है कि कुरुक्षेत्र की रणभूमि में पक्ष और विपक्ष दोनों ओर की सेना में अर्जुन अपने ही गुरुजनों व बंधु- बांधवों को देख रहा था मोह के कारण वह विचार नहीं कर पा रहा था कि अपने इन सगे-संबंधियों पर अस्त्र उठाऊँ या नहीं। जिन गुरुजनों ने मुझे धनुष चलाना सिखाया, उन्हीं पर मैं अपना बाण छोड़े। हताश होकर उसने अपना गाण्डीव धनुष नीचे रख दिया और श्रीकृष्ण की शरण में हो गया। अर्जुन को संशयात्मक स्थिति में पड़ा देखकर श्रीकृष्ण ने कहा -

"हे अर्जुन! तुम्हारे हृदय में अज्ञान के कारण जो संशय आ गया है, उसे अपनी विवेक रूपी तलवार से काट डालो अर्थात् संशय को मिटा दो। समत्व बुद्धि उत्पन्न करो। कर्मयोग में स्थित हो जाओ और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।"

इस पर अर्जुन ने कहा कि, "हे कृष्णा आप पहले तो ज्ञान, कर्म, संन्यास की प्रशंसा कर रहे थे और फिर कर्मयोग की प्रशंसा कर रहे हैं। इन दोनों में से जो मेरे लिए कल्याणकारी हो उसे समझाइए।"

तब भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि दोनों ही परम कल्याणकारी हैं। ज्ञानयोगी को जी परमधाम प्राप्त होता है वही कर्मयोगी को भी प्राप्त होता है। किंतु ज्ञान-कर्म-संन्यास योग से कर्मयोग साधना में अधिक सरल है। कर्म का अर्थ है कार्य करना, कर्तव्य कर्मों को करना और योग का अर्थ है जीवात्मा का परमात्मा से मिलन। तात्पर्य यह कि जीवात्मा अर्थात् मनुष्य ऐसे कर्म करे जिनके करने से अंततः उसका मिलन परमात्मा से हो जाए। मनुष्य जीवन का यही लक्ष्य है। निष्काम भावना से कर्म करने वाला व्यक्ति कर्मयोगी कहलाता है।

श्लोक का अर्थ - भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपना उद्धार स्वयं ही करे। अपने आपको अधोगति में न डालें अर्थात् पतन की ओर न जाएँ। क्योंकि मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु।

व्याख्या - मनुष्य को उन्नति की ओर ले जाने में अथवा पतन की ओर ले जाने में मनुष्य के अपने ही विचारों का बहुत बड़ा हाथ होता है। जिस प्रकार के विचार होंगे, जैसा दृष्टिकोण होगा, उसी के अनुसार उसके कर्म होते हैं। कर्मों के अनुसार ही फल मिलते हैं। सुखद या दुःखद। यहाँ तक कि सारी जीवन शैली विचारों पर आधारित होती है।

भगवान ने कहा कि मनुष्य को स्वयं ही अपना उद्धार करना चाहिए। इसके लिए पहली आवश्यकता है विचारों को शुद्ध व पवित्र करने की। विचारों के पवित्र होने पर ही कर्म पवित्र होंगे। पवित्र कर्म ही जीवन में संतुष्टि व आनंद दे सकते हैं। जो भी कर्म किए जाएँ, वे कर्ता को प्रगति की ओर ले जाने में सहायक हों, उसकी आत्मा का परिष्कार करें, उसके व्यक्तित्व को सुंदर बनाए। कर्म के ईश्वर की पूजा समझ कर करना चाहिए। प्रत्येक कर्म परमात्मा की प्रसन्नता के लिए होना चाहिए। परमात्मा कहीं अलग नहीं है। वह स्वयं मनुष्य के अंदर दिव्य चैतन्य सत्ता के रूप में विद्यमान है।

प्रत्येक के पास विवेक बुद्धि होती है। अपने विवेक या अंतःकरण से पूछना चाहिए कि कौन-सा कार्य कल्याणकारी है? कौन-सा नहीं? सदैव विवेक की आज्ञा माननी चाहिए।

विद्यार्थियों को चाहिए कि वे स्वयं अपने गुण-दोषों को परखें। अपने कार्य व स्वभाव में बनी रहने वाली त्रुटियों को निकाल फेंकें। तभी उनके व्यक्तित्व का परिष्कार हो सकता है। वे सदाचारी, सदगुणी, श्रेष्ठ व स्वावलम्बी बने। निःस्वार्थ भाव से घर की, समाज की. देश की सेवा करें। अपना दृष्टिकोण उदार बनाते हुए सबके प्रति प्रेम का विकास करें क्योंकि परमात्मा प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान है।

अच्छे कार्य करते समय बाधाएँ अवश्य आती हैं किंतु ईश्वर में विश्वास व आत्मविश्वास होने से आगे बढ़ने के लिए उत्साह बना रहता है। अपनी सूझ-बूझ से कठिनाइयों को पार किया जा सकता है। एक छोटी-सी चींटी निरंतर चलते-चलते पहाड़ की चोटी पर पहुँच जाती है फिर मनुष्य तो अपार शक्तिवान है।

भगवान ने कृपा करके हमें यह मनुष्य जीवन दिया है ताकि हम दिव्यत्व की ओर बढ़ सकें। मनुष्य के बाद अगली सीढ़ी दिव्यत्व की है, यही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। पतन की ओर जाकर फिर से पशु स्तर पर नहीं आना है। आगे बढ़ना है। आत्मिक उन्नति करना है, तभी उद्धार सम्भव है।

हमारे कर्म ही हमें नीचे गिराते हैं अथवा ऊपर उठाते हैं। कर्मों के अनुसार ही सुख या दुःख पाते हैं। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु।

विचारों को पवित्र करते हुए विवेक के द्वारा स्वयं को अच्छी दिशा में अग्रसर करते हुए उत्साह, परिश्रम, समझदारी के साथ श्रेष्ठ कर्मों के करते हुए अपना जीवन स्तर ऊँचा उठाना चाहिए। तभी आनंदमय, सुखमय जीवन हो सकता है।

कहानी (लघुकथा)

एक बगीचे में एक पेड़ के ऊपर एक भँवरा रहता था। उसी पेड़ के नीचे एक गुबरीला रहता था। (गुबरीला गोबर में पाए जाने वाले एक कीड़े को कहते हैं) दोनों पड़ोसी थे। फुरसत के क्षणों में कभी-कभी आपस में बातचीत कर लिया करते थे। गुबरीला सदैव दुःखी रहता और कहा करता, "यहाँ बिलकुल अच्छा नहीं लगता।"

भँवरा कहता "वाह दोस्त ऐसा कैसे कह सकते हो, मैं तो जहाँ भी जाता हूँ मनभावन सुगन्ध की अनुभूति होती रहती है।" और वह मधुर संगीत गुनगुनाता हुआ उड़ जाता।

एक ही स्थान पर रहने वाले दोनों प्राणियों के दृष्टिकोण में इतना अंतर क्यों? कारण है दोनों का कार्यक्षेत्र, उनके द्वारा किए जाने वाले कर्म। गुबरीला सदा भूमि पर कार्य करता था। गोबर (खाद) को कुरेदता रहता था और भँवरा। उसका तो काम था दिनभर फूलों का पराग चुनना।

यदि हाथों को कीचड़ में डाल दिया जाए तो वे मैले हो जाते हैं। कीचड़ हाथों पर लिपट जाता है पर यदि उन्हीं हाथों को स्वच्छ जल में डुबोया जाए तो हाथों की मलिनता समाप्त हो जाती है।

2. श्लोक-

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्याभिधीयते।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।13-1।।

शब्दार्थ -

इदं	-	यह
शरीरं	-	शरीर
कौंतेय	-	कुन्ती पुत्र अर्जुन
क्षेत्रं इति	-	क्षेत्र जैसा
अभिधीयते	-	कहते हैं या कहा जाता है
एतद्	-	यह,
यः	-	जो
वेत्ति	-	जानता है
तं	-	उसको
प्राहु	-	कहते हैं
क्षेत्रज्ञ	-	क्षेत्र को जानने वाला
इति	-	ऐसा
तद्विदः	-	(तत् + विदः) विद्वान जो उसके बारे में सही-सही जानते हैं।

संदर्भ - यह तेरहवें अध्याय का पहला श्लोक है। इस अध्याय को 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग नाम दिया गया है।

प्रसंग - अर्जुन प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ ज्ञान तथा ज्ञेय के विषय में जानना चाहता था। उसने भगवान श्रीकृष्ण से कहा कि हे कृष्णा मैं प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान तथा ज्ञेय के विषय में जानने का इच्छुक हूँ।

वास्तव में परम पुरुष परमात्मा और परमात्मा के संकल्प का मूर्तरूप यह प्रकृति जो

सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण से युक्त है. इसे जानना प्रत्येक के लिए बहुत आवश्यक है ।

इस सबको केवल ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है।

श्लोक का अर्थ - भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे कुन्तीपुत्र इस शरीर को क्षेत्र कहा जाता है। इस क्षेत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ है (क्षेत्रज्ञ जीवात्मा को कहा गया है) जो इस (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ) विषय को तत्वतः जानते हैं, उन्हें तत्ववेत्ता कहते हैं।

व्याख्या - हमारे प्राचीन ऋषियों ने इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय को अनेक वेद मंत्रों व ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा समझाया है। नेत्रों से दिखाई पड़ने वाला यह सारा जगत माया के कारण कार्य समझ में आता है किंतु यह जगत मिथ्या है। यहाँ की सारी वस्तुएँ अनित्य है,

नाशवान हैं. क्षणभंगुर हैं। शरीर भी प्रकृति का अंश है। यह भी प्रकृति की अन्य वस्तुओं की तरह परिवर्तनशील व नाशवान है। किंतु इस शरीर के अंदर जो जीवात्मा है वह नित्य, चेतन, अविनाशी. निर्विकार, शुद्ध, सत्-चित् आनंदस्वरूप परमात्मा का ही सनातन अंश है जो प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है।

जिस प्रकार से आकाश एक ही है किंतु अलग-अलग बर्तनों में उसका प्रतिबिंब पड़ने पर वह अलग-अलग दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार सब प्राणियों में एक ही परमात्मा का अंश होता है, किंतु बाहरी आकृतियाँ भिन्न-भिन्न होने के कारण सब भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते हैं। जो इस सत्य को भली प्रकार समझ लेता है, वह तत्ववेत्ता कहलाता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने देह को क्षेत्र व देही अर्थात् जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ कहा है। क्षेत्र का अर्थ है खेत। क्षेत्रज्ञ भूमि पर खेती करने वाला किसान होता है। किसान अपने खेत में हल चलाता है। बीज डालता है। खेत की देखभाल करता है और बेकार की कंटीली झाड़ी

आदि उग आती है. उन्हें उखाड़ कर फेंकता रहता है ताकि फसल को बढ़ाने का अच्छा अवसर मिले। समय-समय पर वह पानी व खाद डालता है फिर जब फसल पक कर तैयार हो जाती है तब फसल काटता है।

अब उसने कैसी फसल काटी? अच्छी या खराब? यह तो बीज व किसान के परिश्रम पर निर्भर करता है। कोई बबूल का बीज डालकर आम का फल कैसे पा सकता है?

वास्तव में यह शरीर भी उसे शरीर में रहने वाले जीवात्मा का 'कर्मक्षेत्र है जिसमें वह अपने कर्मों की खेती करता है। हम जो भी कर्म करते हैं अच्छे या बुरे. उसी के अनुसार आगे चल कर फल प्राप्त होता है। यह कर्मफल जन्म-जन्मान्तरों तक चलता है। किसी भी मनुष्य के परिवेश, संस्कार, प्रवृत्ति इत्यादि को देख कर अनुमान लगाया जा सकता है कि पूर्व जन्म में उसने किस प्रकार के कर्म किये होंगे।

यदि जीवन में सुख, आनंद व शांति की फसल चाहिए तो अहंकार, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, आसक्ति जैसे दुर्गुणों की झाड़ियों को उखाड़ कर फेंक देना चाहिए। ।

भगवान बाबा कहते हैं कि 'हृदय की भूमि में पवित्रता व निर्मलता की खाद डालकर उर्वरा करो। फिर हृदय की उस उर्वरा भूमि में सत्य, धर्म, शांति और प्रेम के बीज डालो। प्रेम और सावधानी से इन पौधों की देखभाल तब तक करो जब तक कि ये बड़े होकर मधुर फलो की एक अच्छी फसल न दें। इन सत्य, धर्म शांति, प्रेम के फलों को खाकर ही मनुष्य को शाक्ति प्राप्त होती है।"

सत्य, धर्म, शांति, प्रेम जैसे दैविक गुण मनुष्य को आत्मिक बल प्रदान करते हैं। आत्मबल, आत्मविश्वास और ईश्वर में विश्वास मनुष्य को सद्कों की ओर प्रेरित करता है। सद्कर्मों को करते रहने से मनुष्य की जीवन यात्रा सुख, संतुष्टि और आनंद के साथ पूरी होती है। अंततः वह दैवत्व को प्राप्त होता है।

कहानी

एक बहेलिया था। वह चिड़ियों को जाल में फँसाता और बाजार में बेच देता था। जो पैसे मिलते उसी से जीवन यापन करता था।

एक दिन वह जाल फैला कर बैठा था और चिड़ियों के फैसने का इंतजार कर रहा था। तभी एक टिटहरी चिल्लाती हुई आई और बहेलिए की चद्दर में छिप गई। टिटहरी को कोई अंधविश्वासी लोग अशुभ मानते हैं, इसलिए उसे बहेलिया बेचने जाता तो कोई खरीदता नहीं। ऐसा सोचकर उसने टिटहरी को भगाना चाहा। उसी समय एक बाज उड़ता हुआ वहाँ आ पहुँचा। वह समझ गया कि बाज टिटहरी को खाने के लिए झपटा होगा, अतः वह चद्दर में आकर छिप गई है। बहेलिए को दया आ गई। उसने बाज को भगा दिया। बाज के चले जाने पर टिटहरी भी वहाँ से उड़ गई।

अब कुछ वर्षों बाद बहेलिया मर गया तो यमराज के दूत उसे नरक में ले गए। बहेलिया अपने स्वार्थ के लिए दुष्कर्म करता था। बेकसूर चिड़ियों को जाल में फँसा कर बेचता था, इसीलिए उसे नरक मिला, जहाँ पापियों को उनके दुष्कर्मों के अनुसार दण्ड मिलता है।

बहेलिए के नरक में पहुँचते ही बहुत सी चिड़िया वहाँ आ गई और चिल्लाने लगी.

”इसने हमको फँसा-फँसा कर बेचा है, हम इसको नोचेंगी, इसकी आँखें फोड़ देंगी।”

बहेलिए डर के कारण थर-थर काँपने लगा। उसी समय वहाँ एक टिटहरी आकर यमराज से बोली, ”महाराज! इसने बाज से मुझे बचाया है। इसको आप क्षमा कर दें।”

यमराज अपने दूत से बोले, ”यह बहुत पापी है, किंतु इसने एक काम अच्छा किया है। इस छोटी-सी चिड़िया पर दया की है, इसलिए इसे एक वर्ष के लिए और संसार में जीने दो।”

इधर बहेलिए के घर के लोग उसकी देह को श्मशान ले गए थे और चिता रखने ही वाले थे। परिवार के लोग दुःखी होकर सब संस्कार कर रहे थे इतने में यमराज के द्वारा लौटा दिए जाने के कारण बहेलिया फिर से जीवित हो गया। घर के लोग प्रसन्न होकर उसे घर ले आए।

बहेलिए को यमराज की बातें याद थीं। उसने अब चिड़ियों को पकड़ना छोड़ दिया। मजदूरी करने लगा। प्रतिदिन ईश्वर का नाम लेता। सबके प्रति प्रेम व दया का भाव रखता, सबकी सहायता करता। एक वर्ष बाद देवताओं का विमान आया और उसे स्वर्ग ले गया।

सुकर्म सदा सुफल देते हैं।

3. श्लोक -

सत्वं रजस्तमः इति गुणाः प्रकृति संभवाः।
निबध्नंति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।। 14-5 ।।

शब्दार्थ -

सत्वं	-	सत्वगुण
रजः	-	रजोगुण
तमः	-	तमोगुण

इति - ऐसे

गुणा - तीनों गुण

प्रकृति सम्भवा - प्रकृति से उत्पन्न हुए

निबध्नंति - बंधन में डालते हैं

महाबाहो - अर्जुन

देहे - शरीर में

देहिनम - जीवात्मा

अव्ययम् - अविनाशी

संदर्भ - यह श्रीमद्भगवद्गीता के चौदहवें अध्याय का पाँचवाँ श्लोक है। चौदहवाँ अध्याय गुणत्रय विभाग योग कहलाता है।

प्रसंग - भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परम आनंद को प्राप्त करता है, उस उत्तम ज्ञान को मैं तुमसे कहूँगा। उस दिव्य ज्ञान के द्वारा मनुष्य परमात्मा और गुणों से युक्त इस प्रकृति को भलीभाँति समझता है वह सब प्रकार से अपने कर्तव्य कर्म करता हुआ जीवन बिताता है और फिर दोबारा जन्म नहीं लेता। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि इस ज्ञान को पाकर संसार से मुक्त हो गए। परमधाम को पा गए।

परमात्मा और प्रकृति दोनों अनादि हैं किंतु परमात्मा विशुद्ध चेतन है. जबकि प्रकृति जड़ है। ब्रह्म या परमात्मा एक है। उससे ही सारे प्राणियों का विस्तार होता है। वह सब प्राणियों के भीतर है, बाहर है। मनुष्य देह में स्थित आत्मा वास्तव में परमात्मा का ही अंश है। जिस प्रकार एक ही सूर्य सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को या कह सकते हैं कि सारे प्राणियों के शरीर को प्रकाशित करती है उसे सक्रिय बनाती है। वास्तव में जड़ और चैतन्य के संयोग से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति हुई है।

श्लोक का अर्थ - भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे पराक्रमी अर्जुन! सत्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं तथा अविनाशी जीवात्मा को शरीर से बद्ध करते हैं।

व्याख्या - 'सर्व खल्विदम् ब्रह्म।' निश्चय ही जगत में सब कुछ ब्रह्म ही है। ईश्वर अर्थात् ब्रह्म पाँच तत्वों के रूप में प्रकट हुआ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। इन पाँचों तत्वों के पंचीकरण से तीन गुण उत्पन्न हुए सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण। प्रकृति में ये तीनों गुण विद्यमान हैं।

पंचतत्वों का पंचीकरण है प्रकृति और प्रकृति से उत्पन्न हैं तीनों गुण या यह भी कह सकते हैं कि तीनों गुण का संयोजन होने से ही प्रकृति है इसलिए प्रकृति को स्त्री कहा गया हैं। स्त्री शब्द में स. त, र तीन अक्षर हैं जो सत्व, रज और तम का बोध कराते हैं। तीनों गुणों के अनुपात में भिन्नता होने के कारण ही प्रकृति में भिन्नता दिखाई पड़ती है। सृष्टि, स्थिति और लय का मूल कारण भी ये तीनों हैं।

विज्ञान की दृष्टि से भी देखें तो ज्ञात होगा कि सृष्टि के निर्माण में तीनों गुणों की मुख्य भूमिका है।

(1) प्रत्येक कण की एक मात्रा या भार होता है जो उसकी जड़ता को प्रभावित करता है। इस प्रकार पदार्थ की रोधन-शक्ति (Resistance) तमस को अभिव्यक्त करती है।

(2) प्रत्येक कण गतिशील है। यह सक्रियता रजस का प्रतीक है।

(3) प्रत्येक कण में निरंतर गतिशीलता होते हुए भी एक व्यवस्था है. एक योजना है। जिससे प्रत्येक कण का आपस में तालमेल बना रहता है। आकाश में बड़े-बड़े ग्रह और नक्षत्र तेजी से भ्रमण करते हुए भी कभी एक-दूसरे से टकराते नहीं है और एक दूसरे से

सम्बन्ध भी बनाए रहते हैं। इतनी सुंदर योजना और अनुशासनबद्ध व्यवस्था सतोगुण के कारण है।

इसी प्रकार मनुष्यों में भी चाहे वह स्त्री हो या पुरुष तीनों गुण विद्यमान रहते हैं ।

तमोगुण अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है, जो मनुष्य में आलस्य, कर्मों से विमुखता और प्रमाद के रूप में झलकता रहता है।

रजोगुण मनुष्य को कर्म में लगाता है। मनुष्य के मन में इच्छाएँ जन्म लेती हैं जिन्हें पूरा करने के लिए वह क्रियाशील होता है किन्तु यह क्रियाशीलता स्वार्थ के लिए होती है। अपनी इच्छा को पूरी करने के लिए होती है।

सतोगुण मनुष्य को सुख प्राप्ति में लगाता है। यह देखने में आता है कि प्रत्येक मनुष्य के मन में उन्नति की चाह होती है वह सुख और आनन्द चाहता है। सुख और आनंद श्रेष्ठ कार्यों के द्वारा ही प्राप्त होता है। फल प्राप्ति की इच्छा जिस प्रकार रजोगुण में है, उसी प्रकार सतोगुण में भी है।

जीवात्मा जब इस शरीर के सम्पर्क में आता है तो स्वयं को शरीर ही समझने लगता है। वह समझता है कि शोक या आनन्द जो भी मिल रहा है वह उसे ही मिल रहा है जबकि जीवात्मा का गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वह तो साक्षी मात्र होता है।

स्वयं को शरीर ही समझने के कारण उसमें ”मैं अर्थात् ’अहं’ भाव जाग जाता है। इस प्रकार वह स्वयं को परमात्मा से अलग समझ लेता है। शरीर की इच्छाएँ जीवात्मा की इच्छाएँ हो जाती हैं। उनकी पूर्ति के लिए वह बार-बार विभिन्न शरीरों में आबद्ध होता रहता है अर्थात बार-बार जन्म लेता रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तमोगुणी अपनी अकर्मण्यता व आलस्य के कारण उन कर्मों को सम्पन्न नहीं कर पाता जिन्हें करने के लिए उसने जन्म लिया है। अतः उसे फिर से जन्म लेना पड़ता है उन कार्यों को संपादित करने के लिए। रजोगुणी व सतोगुणी कर्म करते हैं पर सकाम कर्म। सकाम कर्म फल अवश्य देते हैं उन फलों को भोगने के लिए बार-बार उन्हें जन्म लेना पड़ता है।

एक ही मनुष्य में ये तीनों गुण अलग-अलग समय में अपना-अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं, कभी कोई-सा गुण प्रबल है तो कभी कोई- सा।

सारांश यह है कि प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों का भोग करने के कारण और इन तीनों गुणों का संग करने के कारण जीवात्मा बार-बार विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं।

दृष्टान्त - स्वामी अपने प्रवचनों के मध्य इस बात को बड़े ही सरल ढंग से समझाते हैं। जीवात्मा को इच्छाएँ किस प्रकार शरीर से बाँध देती हैं? इसके लिए वे एक उदाहरण देते हैं :-

बंदर पकड़ने वाले लोग एक छोटे मुँहवाले बर्तन में मिठाई भर देते हैं कि यदि कोई बंदर मिठाई लेना चाहेगा तो अपना हाथ उस बर्तन में डालेगा, मुट्ठी में मिठाई को भरेगा। मिठाई तो हाथ आ जाएगी किंतु मुट्ठी बँधी होने के कारण हाथ बाहर नहीं निकाल सकेगा. वह मदारी की पकड़ में आ जाएगा।

बंदर हाथ तभी बाहर निकाल सकेगा जब मिठाई की इच्छा छोड़कर मुट्ठी को खोल दे।

यह संसार भी तरह-तरह के प्रलोभन रूपी मिठाइयों से भरा एक विशाल बर्तन है। हमारा परिवार उस बर्तन का सँकरा मुख है और इच्छाएँ उस पात्र में रखी मिठाइयों। मनुष्य इच्छा रूपी मिठाई को पाने के लिए अपना हाथ डालता है अर्थात् इच्छापूर्ति में लिप्त हो जाता है और संसार में ही फंसा रह जाता है।

मुक्ति की अभिलाषा करने वाले को इच्छाओं का त्याग करना आवश्यक है।

4. श्लोक-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

निर्ममो निरहंकारः सम दुःख सुख क्षमी।। 12-13।।

शब्दार्थ -

अद्वेष्टा	-	द्वेष भाव से रहित
सर्वभूतानां	-	सभी प्राणियों से
मैत्रः	-	मित्रता रखना
करुणा	-	दया
एव	-	ही
च	-	और
निर्ममो	-	ममकार या मैं और मेरे की भावना से रहित
निरहंकार	-	अहंकार रहित
सम दुःख सुख	-	दुःख-सुख को समान समझने वाला
क्षमी	-	क्षमावान

संदर्भ - उपर्युक्त श्लोक बारहवें अध्याय का तेरहवाँ श्लोक है। इस अध्याय को भक्तियोग का नाम दिया गया है। इसमें भगवान श्रीकृष्ण ने भक्ति की महत्ता, भगवद् प्राप्ति के उपाय व भगवद प्राप्त मनुष्यों के लक्षण बताए हैं।

प्रसंग - श्रीमद्भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में वर्णित है कि अर्जुन के अज्ञान को दूर करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार के अध्यात्म से सम्बन्धित वचन व उपदेश कहे। अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से अनन्य प्रेम करता था। उसने कहा कि, "हे प्रभो! यदि आप मुझे योग्य समझते हो तो अपने जिस अविनाशी स्वरूप का वर्णन आपने किया है. अपने उस स्वरूप का दर्शन मुझे कराइए।"

भगवान ने अपने अविनाशी विराट सगुण साकार स्वरूप के दर्शन अर्जुन को कराए। उसे अनुभव हुआ कि परमात्मा के निराकार रूप का, परम सत्य का चिंतन करना कठिन है किन्तु सगुण साकार स्वरूप का चिंतन करना सरल व बड़ा ही भला है क्योंकि इससे ईश्वर के सानिध्य की अनुभूति होती रहती है और मधुर आनन्द प्राप्त होता है।

फिर भी अपनी बात की पुष्टि करने के लिए अर्जुन ने पूछ ही लिया कि "जो अनन्य प्रेमी भक्त आपके सगुण रूप का चिंतन करते हुए भजन-ध्यान में लगे रहते हैं, वे ज्यादा श्रेष्ठ हैं या वे जो सत्-चित् आनंद स्वरूप निर्गुण व निराकार ब्रह्म का चिंतन करते हैं।"

तब भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि जो इन्द्रियों को वश में करके और साधना के द्वारा समत्व बुद्धि पाकर निरंतर निराकार अविनाशी सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म के साथ अपना एकाकार बनाए रखते हैं और अन्य प्राणियों के हित में कार्य करते हैं वे अन्त में मुझे ही प्राप्त होते हैं। परंतु जो अपने मन को मेरे सगुण साकार स्वरूप में एकग्र करके भजन-ध्यान में लगे रहते हैं। अपने कर्मों को मुझे समर्पित कर देते हैं, मुझे वह भक्त बहुत प्रिय है और ऐसे शुद्ध हृदय वाले प्रेमी भक्तों को मैं संसार सागर से शीघ्र ही पार लगाता हूँ।

यहाँ भगवान श्रीकृष्ण ने भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है।

”अद्वैष्टानाम् सर्वभूतानां....।” इस श्लोक में उन्होंने भक्ति के गुणों से अर्जुन को परिचित कराया।

श्लोक का अर्थ - भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि मेरा भक्त किसी भी प्राणी मात्र से द्वेष नहीं करता। सबसे मैत्री व दया भाव का भाव रखता है। वह ममकार (मैं और मेरे) की भावना से रहित, अहंकार रहित, सुख-दुःख को समान समझने वाला व क्षमाशील होता है।

व्याख्या - जब ईश्वर के प्रति भक्ति शुद्ध हो जाती है। मन की मलिनता समाप्त हो जाती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर जैसे दुर्गण मन से समाप्त हो जाते हैं तो भक्त शांत चित्त वाला हो जाता है। यदि कोई उसका शत्रु बनता है तो भक्त सोचता है कि मेरे ही किसी कार्य के कारण यह शत्रु बन गया है। जब कोई कष्ट आता है तो उसे भी ईश्वर की कृपा मानता है, सोचता है कि हो सकता है इससे भी ज्यादा कष्ट मिलने वाला रहा होगा पर ईश्वर की कृपा से इतना ही कष्ट मिल रहा है। इस प्रकार वह सदा शांत व धीर बना रहता है।वह सबके प्रति यहाँ तक कि अपने शत्रु के प्रति भी दया का भाव रखता है। अपने भौतिक शरीर को प्रधानता नहीं देता, उसे मिथ्या मानता है इसलिए मिथ्या अहंकार से मुक्त रहता है। सुख व दुःख दोनों ही परिस्थिति में एक समान भाव से रहता है। अपने चित्त को ईश्वर में लगाए रखते हुए कर्तव्य कर्म करता रहता है। भगवान को भी ऐसे भक्त बहुत प्रिय हैं।

भगवान श्री सत्य साई बाबा कहते हैं, ”ईश्वर के प्रति भक्ति अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनुशासन का एक रूप है। जो कर्म प्रभु को प्रसन्न करे, उसका सम्पादन कहीं अधिक श्रेष्ठ है, उस कर्म से जो भक्त की इच्छाओं को पूरा करता है। यदि सभी कामों को भगवान का काम समझकर पूरा किया जाए तो वे ममकार अथवा अहंकार के स्पर्श से मलिन न हो सकेंगे।

इस प्रकार से ईश्वर भक्ति हृदय को पवित्र बनाती है विचारों को पवित्र करती है। दृष्टिकोण को व्यापक व विशाल बनाती है भक्त सबमें ईश्वर का अनुभव करता हुआ सबकी सेवा में जुट जाता है।

कहानी

पैढण में संवत् 1590 के लगभग संत श्री एकनाथ का जन्म हुआ था। वे बचपन से बड़े ही प्रतिभाशाली थे। सदैव ईश्वर चिंतन में लीन रहते थे। श्री जनार्दन स्वामी उनके गुरु थे। गुरुकृपा से उन्हें भगवान दत्तात्रेय जी का दर्शन हुआ था। गुरु आज्ञा से आपने अपना पूरा जीवन भगवद्भक्ति के प्रचार में लगा दिया। आपने अनेक ग्रंथ भी लिखे।

उनमें धैर्य, अक्रोध, क्षमा और सर्वत्र भगवान को देखने के भाव के विषय में कई घटनाएँ प्रसिद्ध है।

एक बार श्री एकनाथ जी जब गोदावरी नदी से स्नान करके लौट रहे थे तो रास्ते में एक घर के सामने एक व्यक्ति ने इनके ऊपर पानी का कुल्ला कर दिया। एकनायजी बिना कुछ कहे दोबारा स्नान करने चले गए। वह व्यक्ति बड़ा धूर्त था। उसने लगभग 108 बार उनके ऊपर कुल्ला किया और प्रत्येक बार वे चुपचाप लौट कर स्नान कर आते। संत के अद्भुत धैर्य व क्षमाशीलता देखकर वह उनके चरणों में गिर पड़ा और क्षमा माँगने लगा।

सभी प्राणियों के प्रति उनका दया भाव देखते ही बनता था। एक रात की बात है, घर में एक भूखे ब्राह्मण अतिथि आए। उस समय वर्षा हो रही थी। सभी लकड़ियाँ गीली हो

गई थीं। भोजन पकाने के लिए सूखा ईंधन नहीं था सो उन्होंने अपनी चारपाई के पाए-पाटी को जला-जलाकर भोजन बनवाया उन अतिथि के लिए।

ऐसे ही एक बार की बात है। वे प्रयाग से गंगाजल लेकर श्री रामेश्वरमुजी की तीर्थयात्रा पर जा रहे थे। वहाँ वह गंगाजल शिवजी पर चढ़ाना था। एक सुनसान जगह पर एक गधा प्यासा तड़प रहा था। उन्होंने सारा गंगाजल उस गधे को पिला दिया और पिलाते समय यह अनुभूति करते रहे मानो वे गंगाजल से शिवजी का ही अभिषेक कर रहे हों। शिवजी बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें दर्शन दिए।

इस प्रकार का उदार चरित्र था उनका। अनेक चमत्कारिक घटनाएँ उनके जीवन में घटीं।

इनके प्रभाव से पैढण और आसपास के गाँव में भक्ति की एक लहर फैल गई। चारो ओर पवित्र वातावरण हो गया था।

अन्त समय तक वे स्वस्थ व प्रसन्नचित्त बने रहे। चैत्र कृष्ण पक्ष षष्ठी संवत् 1656 का दिन था। गोदावरी के तट पर हरि भक्तों की भीड़ लगी थी। चारों ओर कीर्तन की ध्वनि गूँज रही थी। उसी भक्तिमय वातावरण में एकनाथजी ने पहले गोदावरी में स्नान किया फिर समाधि ले ली।

एकनाथजी भगवान के सच्चे व प्रिय भक्त थे।

5. श्लोक-

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्याययाभ्यासनं चैव वाङगमयंतप उच्यते ।।17-15।।

शब्दार्थ-

अनुद्वेगकरं	-	उत्तेजित न करने वाले या किसी को कष्ट न पहुँचाने वाले
वाक्य	-	वचन या वाणी
सत्यं	-	सत्य
प्रियहितं	-	मधुर एवं हितकारी
च	-	तथा
यत्	-	वह
स्वाध्याय	-	वेद शास्त्र व पवित्र ग्रंथों का अध्ययन
अभ्यासनं	-	अभ्यास द्वारा आचरण में उतारना
एव	-	ही
वाङ्गमयं	-	वाणी सम्बन्धी या वाचिक
तप	-	संयम, उच्यते कहा जाता है

संदर्भ - यह सत्रहवें अध्याय का पन्द्रहवाँ श्लोक हैं। इस अध्याय को श्रद्धात्रय विभाग योग कहते हैं।

प्रसंग - इस अध्याय में अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण के समक्ष अपनी जिज्ञासा रखी। उन्होंने पूछा कि, ”जो मनुष्य शास्त्र विधि का त्याग करके केवल श्रद्धा भाव से देवता आदि का पूजन करते हैं, उनकी स्थिति सात्विक है या राजसी या फिर तामसिक?

इस पर भगवान श्रीकृष्ण ने श्रद्धा, यज्ञ, दान एवं तप के सात्विक, राजसिक व तामसिक तीनों पहलुओं पर विस्तार से समझाया। उन्होंने समझाया कि संसार में सात्विक, राजसिक व तामसिक तीनों ही प्रकार के गुणों से युक्त मनुष्य होते हैं, वे अपने-अपने स्वभावा के अनुसार कर्म किया करते हैं किंतु श्रद्धा, आहार, यज्ञ, दान एवं तप आदि सभी कार्यों में सात्विकता का होना बहुत आवश्यक है। फल की इच्छा से रहित होकर और शास्त्रविधि के अनुसार किए गाए यज्ञ, दान इत्यादि सात्विक होते हैं। आगे उन्होंने तीन प्रकार के तप बताए, कायिक तप. मानसिक तप व वाचिक तप।

देवता, ब्राह्मण, गुरुजन, माता-पिता, वृद्ध और ज्ञानीजनों का पूजन उनका आदर सम्मान करना, जीवन में सात्विकता, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य व अहिंसा का पालन, ये शरीर से संबंधित तप हैं इसे 'कायिक तप' कहते हैं।

मन में प्रसन्नता, शांत स्वभाव, भगवान का चिंतन करते रहने का स्वभाव, मनोनिग्रह और अपने विचारों को पवित्र करना, यह मन से संबंधित है। अतः मानसिक तप है।
तीसरा तप 'वाचिक तप है यह वाणी से संबंधित है। उपर्युक्त श्लोक इसी बाधिक तप के सम्बन्ध में है।

श्लोक का अर्थ - भगवान श्रीकृष्ण जी कहते हैं उत्तेजित न करने वला अर्थात् किसी को दुःख न पहुँचाने वाला वितु सत्य, मधुर, परहितकारी वचन कहना, वेदशास्त्र आदि पवित्र धर्मग्रंथों का अध्ययन करना व जो अध्ययन किया है उसे अभ्यास द्वारा आचरण में लाना इस ही वाचिक तप कहते हैं।

व्याख्या - प्रत्येक मनुष्य के लिए वाणी पर नियंत्रण करना आवश्यक है। उसे अपनी वाणी को नियंत्रित करने में कठिनाई अवश्य ही है पर धीरे-धीरे अभ्यास हो जाता है। वाणी पर नियंत्रण करने के लिए विचारों को शुद्ध और सात्विक बनाना पड़ता है। प्रायः मन की बात वाणी द्वारा प्रकट हो जाती है, इसलिए सोच-समझकर बोलना चाहिए। कम बोलना चाहिए. जितना आवश्यक हो उतना ही बोला जाए। काम, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार, घृणा, लोभ, मोह जैसे विकारों को दूर करते हुए विचार स्वच्छ व पवित्र करने चाहिए। इन सबके अभ्यास से वाणी पर नियंत्रण सरल हो जाता है।

वाणी इतनी प्रभावशाली होती है कि पराए अपने बन जाते हैं और मित्र शत्रु बन जाते हैं। विवेकहीन वार्तालाप से कई बार बड़ी ही अप्रिय स्थिति निर्मित हो जाती है। अनेक दुष्परिणाम भी झेलने पड़ते हैं।

आगे, मनुष्य को कभी ऐसे बोल नहीं बोलना चाहिए जिससे किसी को दुःख पहुँचता हो। कभी किसी की निंदा नहीं करनी चाहिए। जो सदा क्लेश देने वाले शब्दों का प्रयोग करते हैं, उनसे लोग दूर हो जाते हैं ।

सत्य बोलना चाहिए। इस प्रकार से सत्य बोला जाए जिसे प्रमाणित किया जा सकता

हो। सुनने वाला भी सत्य वचन को ग्रहण कर ले सत्य कड़वा नहीं बल्कि प्रिय होना चाहिए।

इस प्रकार का अभ्यास ज्ञान के द्वारा होता है। ज्ञान पवित्र धर्मग्रंथों से प्राप्त होता है इसलिए वेद शास्त्र व पवित्र ग्रंथों का पठन, मनन व अभ्यास करना चाहिए। यही वाचिक तप है।

इस प्रकार का तप करने से व्यक्तित्व निखर उठता है। मधुर और सत्य वाणी के कारण ही लोगों से घनिष्ठता व मित्रता बढ़ती है अनेक लोग हमारी कठिनाई में हमारे सहायक भी बनते हैं।

कहानी

एक राजा ने एक बार स्वप्न देखा कि उसके दाँतों की बत्तीसी गिर गई है। राजा चौक कर जाग गए, उन्हें स्वप्न कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। प्रातःकाल बड़ी सवेरे ही उन्होंने सभा में ज्योतिषियों को बुलाया और उन्हें अपना स्वप्न सुनाकर उनसे स्वप्न का अर्थ पूछा।

सभा में दो ज्योतिषी आए थे और दोनों ही भूत व भविष्य की बातें जान लेते थे। एक ज्योतिषी ने कहा, ”आपका स्वप्न तो बहुत भयंकर है। बत्तीसी गिरने का अर्थ तो यही निकल रहा है कि आपके देखते-देखते सब सगे संबंधी एक के बाद एक मर जाएँगे।”

ज्योतिषी की बात सुनकर सभा में शोक व सन्नाटा छा गया।

दूसरा ज्योतिषी बहुत विवेकवान व मधुरभाषी था, उसने कहा, ”राजन! मैं इस स्वप्न का अर्थ कल प्रातःकाल बताऊँगा।”

राजा बेचारे अगले दिन की प्रतीक्षा करने लगे। रातभर चिंतित व दुःखी रहे। उन्हें नींद नहीं आई।

सवेरा होते ही सब सभा भवन में पहुँचे। सभी दूसरे ज्योतिषी की भविष्यवाणी सुनने को उत्सुक थे। ज्योतिषी आए। उन्होंने बताया कि, ”यह स्वप्न तो आपकी दीर्घायु का सूचक है। आपकी आयु इतनी लम्बी है कि आपके परिवार के किसी भी सदस्य को आपकी मृत्यु का दुःख झेलना नहीं पड़ेगा। कोई भी इस प्रसंग को नहीं देखेगा। आपकी आयु लम्बी है।”

राजा उस ज्योतिषी की विवेकयुक्त वाणी सुनकर बहुत प्रसन्न हुए व उसे पुरस्कार दिया।

स्वप्न का अर्थ एक ही था किन्तु कहने में कितना अंतर? सुनने पर कितना विपरीत प्रभाव?

विशेष टिप्पणी

सात्विक, राजसिक व तामसिक इन तीनों गुणों के आधार पर मनुष्य का स्वभाव बनता है और उसके स्वभावानुसार ही उसका आहार, यज्ञ, दान, तप इत्यादि का प्रकार निश्चित होता है। इस प्रकार आहार, यज्ञ, तप, दान ये भी तीन प्रकार के होते हैं।

आहार

1. सात्विक - सात्विक मनोवृत्ति उत्पन्न करने वाले, आयु, आरोग्य, बल व आनंद बढ़ाने वाले, चिकनाईयुक्त रसीले पदार्थ होते हैं।

2. राजसिक - ये आहार खट्टे, चटपटे. खारे, तीखे, गरम व जलन उत्पन्न करने वाले, कष्ट देने वाले होते हैं।

3. तामसिक - अधपके, बासी, गरिष्ठ, आलस्य पैदा करने वाले अपवित्र आहार जैसे माँसाहार- ये तामसिक आहार हैं।

यज्ञ

सात्विक यज्ञ - निष्काम भाव से, शास्त्र विधि से, शांत मन से किया यज्ञ सात्विक है।
राजसिक यज्ञ - यश की लालसा से, फल की इच्छा से किया गया यज्ञ राजसिक है।
तामसिक - शास्त्र-विधि रहित, बिना मंत्रों के, बिना दान-दक्षिणा के श्रद्धारहित होकर किया गया यज्ञ तामसिक है।

दान

सात्विक दान - विवक द्वारा स्थान, समय व पात्र का चुनाव करते हुए, बदला न चाहते हुए कर्तव्य भाव से किया गया दान सात्विक है।

राजसिक दान - बदले में कुछ पाने की इच्छा से किया गया दान। तामसिक दान - कुसमय व अनुचित स्थान पर कुपात्र को तिरस्कार के साथ दिया गया तामसिक है।

तप

कायिक तप - देवता, बड़े लोगों का व गुरु का, विद्वानों का सम्मान, पूजा, मन में सरलता, पवित्रता, ब्रह्मचर्य व अहिंसा कायिक तप है।

मानसिक तप - प्रसन्नता, सौम्यता, मनोनिग्रह, मौन व पवित्र भावना मानसिक तप है।

वाचिक तप - शांत, सत्य, प्रिय, कल्याणकारी वचन, स्वाध्याय, मनन, निध्यासन यह वाचिक तप है।

प्रत्येक कर्म, यज्ञ, दान, तप, आहार में सात्विकता का होना आवश्यक है।

6. श्लोक -

त्रिविधं नरकस्येद द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। 16-21।।

शब्दार्थ -

त्रिविधं - तीन प्रकार के,

नरकस्य - नरक के,

इदं - यह,

द्वार - दरवाजा

नाशनं - विनाश करने वाले

आत्मनं - स्वयं का

कामः - इच्छा,

तस्मात् - इसलिए

एतत् - इन्हें

त्रयं - तीन

त्येजत् - छोड़ देना चाहिए।

संदर्भ - उपर्युक्त श्लोक श्री गीता के 16वें अध्याय से लिया गया है। यह इक्कीसवाँ श्लोक है। इस अध्याय को दैवासुर सम्पत्ति विभाग योग कहते हैं।

प्रसंग - इस अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने दैवी तथा आसुरी गुणों के लक्षण बताए हैं। उन्होंने कहा कि जो सज्जन होते हैं, महात्मा होते हैं, उनमें निर्भयता, आत्मशुद्धि. आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन, दान, आत्मसंयम, यज्ञपरायणता, वेदाध्ययन, तपस्या. सरलता, अहिंसा, सत्यता, क्रोधविहीनता, त्याग, शांति, निंदा करने में अरुचि, समस्त जीवों पर करुणा, लोभविहीनता, भद्रता, लज्जा, संकल्प, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, ईष्ष्या का अभाव, मान की अभिलाषा न होना, इस प्रकार के लक्षण होते हैं।

भगवान ने इस प्रकार दैवी सम्पदा से युक्त गुणों के छब्बीस लक्षण गिनाए। इन गुणों को आत्मसात् करने पर ही दैवत्व की प्राप्ति होती है।

इसके पश्चात् भगवान ने आसुरी गुणों के लक्षण भी बताए। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध अज्ञान आदि आसुरी स्वभाव वाले व्यक्तियों के लक्षण होते हैं। ये दुर्गुण मनुष्य को पतन की ओर ले जाते हैं। ऐसे मनुष्य अपने दुष्कर्मों के द्वारा परिवार, समाज, देश व संसार में अशांति व अव्यवस्था फैलाते हैं। काम, क्रोध और लोभ तो मनुष्य के घोर शत्रु हैं। इनके संबंध में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं:-

श्लोक का अर्थ - काम, क्रोध तया लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं और आत्मा का विनाश करने वाले हैं, अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

व्याख्या - काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन दुर्गुण निश्चय ही विनाश की जड़ हैं। कुछ न कुछ अनर्थ करके ही रहते हैं।

'काम' अर्थात् इच्छाएँ, कामनाएँ, महत्वाकांक्षाएँ जब मनुष्य के अंदर बलवती हो जाती है तो वह उन्हें किसी भी मूल्य पर पूरा करना चाहता है। अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए इतना लालायित हो उठता है कि अपने कर्तव्यों को भूल जाता है। व्यवहार और आचरण के मानदण्डों का भी उल्लंघन कर बैठता है। उसके जीवन पर इन सबका दुष्प्रभाव पड़ता है।

कामनाओं पर नियंत्रण करने के लिए इन्द्रिय निग्रह आवश्यक है। इन्द्रिया नियंत्रण के लिए जरूरी है मन को स्थिर करना। चलायमान मन को स्थिर करने के लिए जप, ध्यान जैसी साधनाएँ करनी चाहिए।

'क्रोध' भी मनुष्य का घोर शत्रु है, क्योंकि क्रोध मनुष्य की विवेक शक्ति को नष्ट कर देता है। क्रोध के आवेश में मनुष्य कोई भी अनुचित कार्य कर बैठता है. फल स्वरूप उसे परिवार में या समाज में निंदा मिलती है। वह मान-सम्मान खो देता है। उसके क्रोध के

कारण सगे-सम्बन्धी भी उसका साथ छोड़ देते हैं तब उसे अपना जीवन निरर्थक लगने लगता है।

क्रोध से बचने के लिए अच्छा शांति प्रदायक साहित्य पढ़ना चाहिए। स्वयं को रचनात्मक कार्यों में लगाना चाहिए। दृष्टिकोण को उदार बनाना चाहिए।

स्वामी ने क्रोध से बचने का बड़ा सरल उपाय बताया। उन्होंने कहा है कि जब क्रोध आए तो एक गिलास ठण्डा पानी पी लो। चद्दर ओढ़कर चुपचाप लेट जाओ।जब मन शांत होने लगे तो उस स्थिति पर विचार करो कि जब तुम क्रोध करते हो किस प्रकार का व्यवहार करते, विचार करने पर तुम्हें स्वयं ही ग्लानि होगी।

भगवान श्रीकृष्ण ने तीसरा नरक का द्वार लोभ' को बताया है। लोभी व्यक्ति को कभी चैन नहीं। वह न तो अपनी धन सम्पत्ति का प्रयोग सवयं करता है न दूसरों को देता है। सदा धन चुरा जाने की चिंता बनी रहती है। कुछ लोग इतने लोभी हो जाते हैं कि दूसरों की सम्पत्ति या वस्तु स्वयं हड़प लेने का प्रयास करते हैं। किंतु ऐसे लोगों का विनाश अवश्य होता है।

ये तीनों दुर्गुण मनुष्य के अंदर ईश्वर के प्रति भक्ति व ज्ञान को कम कर देते हैं। उसके कर्म दूषित हो जाते हैं। इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

कहानी

योगी का पतन

एक योगी था। वह एक कस्बे की ओर जाने वाले मार्ग पर अपना डेरा डालकर रहता था और साधना में लगा रहता था। एक बार उसने देखा कि सामने से एक महंतजी हाथी पर सवार होकर चले आ रहे हैं। अचानक योगी को एक विचार आया कि क्यों न अपनी साधना की शक्ति को परखा जाए? हाथी के समीप आते ही उसने हाथी की पूँछ पकड़ कर उसको रोक लिया। महंतजी को अपमान महसूस हुआ पर यह सोचकर चुप रह गए कि अब योगी से क्या बोले? योगी द्वारा पूँछ छोड़ दिए जाने पर वह घर आया और अपने महावत के साथ विचार विमर्श करने लगा। क्योंकि योगी फिर कभी भी ऐसा कर सकता था। महावत ने एक उपाय सुझाया वह योगी के पास गया और उससे बोला कि आपकी साधना शक्ति देखकर महंतजी बहुत प्रसन्न हुए हैं। उन्होंने कहा है कि यदि आप नित्य हाथी को रोकेंगे तो वे प्रतिदिन आपको दस-दस रुपए देंगे।

अब योगी बहुत खुश कि चलो उसे भिक्षाटन के लिए भी नहीं जाना पड़ेगा।

उसका प्रतिदिन का समय रुपयों को जोड़ने गिनने में व्यतीत होने लगा। चिंता भी रहने लगी कि अब रुपए कहाँ रखें। धन का लोभ आ गया था साधना में कमी हो गई थी। उसकी शक्ति क्षीण हो गई साधना की कमी से।

1 महीने पश्चात् ऐसा समय आया, जब वह हाथी की पूँछ पकड़ कर उसे रोक नहीं सका। उसका आध्यात्मिक पतन हो चुका था।

"शिक्षा सत्य की औपचारिक अभिव्यक्ति है और सत्य सामाजिक सामंजस्य का आधार है। मनुष्य के दिव्य गुण दर्पण कीभाँति शिक्षा में देखे जा सकते हैं। आज की शिक्षा प्रणाली छात्र को कठोर हृदय बना देती है। उसमें दया और सहानुभूति की भावनाएं नहीं होतीं। करुणा और सहिष्णुता पूर्णतया अनुपस्थित हैं। जिन्हें गरीबों और जरूरतमंदों की सेवा में व्यस्त होना चाहिए वे अपने ही स्वार्थपूर्ण

उद्देश्यों में लगे हैं। स्वार्थ और आत्म केन्द्रीयता को जड़ से उखाड़ देना चाहिए। समाज सेवा को शिक्षा का मुख्य उद्देश्य समझना चाहिए।"

कर्म

1. श्लोक -

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।
मा कर्मफलहेतुर्भुर्भा ते संगो स्त्वकर्मणि।।12-47।।

शब्दार्थ -

कर्मणि	-	कार्य में,
अधिकारस्ते	-	अधिकार है
मा	-	नहीं,
फलेषु	-	फल में
कदाचन्	-	कभी भी
मा कदाचन्	-	कभी भी नहीं,
हेतु	-	उद्देश्य
भूः	-	हो,
संगो	-	आसक्ति (प्रीति)
अकर्मणि	-	निष्क्रियता या कर्म न करना

अस्तु - होवे

संदर्भ - यह श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय सांख्य योग से लिया गया सैंतालीसवाँ श्लोक है। इसमें सांख्य योग तथा कर्मयोग का सिद्धांत समझाया गया है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के लक्षण बताए गए हैं। स्वधर्म पालन की आवश्यकता बताई गई है।

प्रसंग - कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों की तथा पाण्डवों की सेनाएँ एक-दूसरे से युद्ध करने को तत्पर खड़ी थीं। रणघोष की प्रतीक्षा कर रही थीं। अर्जुन भी अपने रथ में बैठे थे और भगवान श्रीकृष्ण उनके रथ के सारथी बने हुए थे। कुशल सारथी वह होता है जो रथ को सही मार्ग पर ले जाए। मार्ग में पड़ने वाली बाधाओं से बचाते हुए रथ को लक्ष्य पर पहुँचा दे। यहाँ स्वयं भगवान सारथी बने थे, जो जीवन रूपी रथ के भी सारथी हैं।

अर्जुन शत्रु पक्ष की सेना में भी अपने ही भाई बाँधवों को तथा गुरुजनों को देख रहे थे। वे शोक से व्याकुल हो गए। दुःखी होकर बोले, "मैं युद्ध नहीं करूँगा।" अपना धनुष-वाण रख दिया और रथ में ही बैठे हुए रोने लगे। बोले - मैं भिक्षा माँग कर जीवन यापन कर लूँगा किंतु इन गुरुजनों को मार कर इनके रक्त से सने हुए धन का भोग नहीं करूँगा। किंतु यदि वे सब मारे जाते हैं तो हम भी जीना नहीं चाहेंगे।

अर्जुन मोह में पड़ गए थे। समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें तब श्रीकृष्ण की शरण में हो गए और बोले, "मेरे लिए जो कल्याणकारी मार्ग हो वह बताइए।"

श्लोक का अर्थ - भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है। कर्मफल की इच्छा मत करना। कर्म का फल पाना तुम्हारा उद्देश्य नहीं होना चाहिए। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि निष्क्रिय बन जाओ, कर्म ही न करो।

व्याख्या - हिन्दू धर्म का मूल सिद्धांत है कारण, कर्म और फल। किसी भी कार्य को करने से पहले कोई न कोई कारण अवश्य होता है। 'कारण' उत्पन्न होने पर कर्म होता है। फिर कर्म के अनुसार फल प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, 'हमें भूख लगी यह कारण है। भूख लगने के कारण हमने भोजन किया, यह कर्म है। भोजन करने से जो तृप्ति मिली वह भोजन करने का फल है। जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही फल मिलता है। यदि भोजन शुद्ध व संतुलित किया है तो शरीर को लाभ पहुँचाएगा। यदि अशुद्ध भोजन किया है तो हानि होगी।

जैसा बीज बोया जाएगा, वैसी ही फसल प्राप्त होती है। यही सिद्धांत अध्यात्म में है। हमारे पिछले जन्म में किए गए कर्म, हमारे इस जन्म का कारण बनते हैं। इस जन्म में किए गए कर्म जो फल देंगे, उसी के अनुसार आगामी जन्म होगा। कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। यदि पुण्य किए हैं तो भी पुण्य का सुखद फल भोगने के लिए जन्म होगा। यदि पाप किए हैं तो उसका दुःखद फल भोगने के लिए जन्म मिलेगा। इस प्रकार हमारे द्वारा किए गए कर्म ही जन्म-मरण के बंधन का कारण बनते हैं, जबकि मनुष्य का लक्ष्य मुक्ति पाना है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं सकाम कर्म व निष्काम कर्म। फल की इच्छा से किए गए कर्म सकाम कर्म कहलाते हैं। यही सकाम कर्म पुनर्जन्म का कारण बनते हैं। फल की इच्छा से रहित होकर किए जाने वाले निष्काम कर्म मोक्ष को प्रदान करते हैं। मोक्ष का अर्थ होता है मोह का क्षय।

कर्म तो प्रत्येक को करना पड़ता है। स्वयं भगवान को भी करना पड़ता है। वे कर्म न करें तो सृष्टि जड़ हो जाएगी। मनुष्य को भी कर्म करना पड़ता है, जीवन की गतिशीलता कर्म के कारण है। इसलिए निष्क्रिय तो बना नहीं जा सकता।

किंतु मनुष्य को स्वधर्म का पालन करना चाहिए। प्रकृति ने उसके लिए जो धर्म निर्धारित किए हैं, उनको पहचानते हुए अपने कर्तव्यों का पालन निष्काम भाव से करना चाहिए। यही सर्वश्रेष्ठ कर्म है।

एक गृहिणी अपने परिवार की क्षुधापूर्ति के लिए सुबह-शाम भोजन पकाती है। चाहे कितनी भी गर्मी पड़े, किंतु अग्नि के सामने जाने से घबराती नहीं, क्योंकि सबकी भूख शांत करना वह अपना कर्तव्य समझती है।

यह कर्म भी तीन प्रकार से सम्पन्न होते हैं, जब स्वधर्म का पालन किया जाता है तो वे 'साधारण कर्म' कहलाते हैं किंतु जिन कर्मों को करने का निषेध है कि इन्हें नहीं करना चाहिए

पर किए जाते हैं तो वे विकर्म' कहलाते हैं और जब निष्काम भाव से फल की इच्छा से रहित होकर सात्विक कर्म मनुष्य का स्वभाव बन जाता है, उसके कर्म सहज भाव से होते रहते हैं तो वे 'अकर्म' बन जाते हैं अर्थात् करते हुए भी न करने जैसा। इनका कोई फल नहीं मिलता, ये ही मुक्ति देते हैं।

गहनः कर्मनो गतिः। कर्म की गति बड़ी गहरी होती है। कौन-सा कर्म उचित है? कौन सा नहीं? यह सोच पाना बहुत कठिन होता है।

इसलिए भगवान में सारा ध्यान केन्द्रित करते हुए सारे कर्तव्य भगवान की पूजा समझ कर निष्काम भाव से पूरे करते रहना चाहिए। फल ईश्वर-इच्छा पर छोड़ देना चाहिए।

विद्यार्थियों को चाहिए कि वे अपना विद्याध्ययन पूरी निष्ठा से करें, गुरुजनों की तथा माता-पिता की आज्ञा का पालन करें, उनकी सेवा करें। समाज व देश के हित में वे जो भी कर सकते हों करें, पर यश की कामना से नहीं। विद्यार्थी ऋणी होते हैं, माता-पिता,

गुरुजन, समाज व राष्ट्र के प्रति। अतः इन सबके प्रति कर्तव्यपालन करना, इनकी सेवा करना प्रत्येक विद्यार्थी का स्वधर्म है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में निष्काम कर्म पर ही बल दिया है। मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म फल भगवान पर छोड़कर निःस्वार्थ भाव से सत्कर्म करे। 'सत्कर्म' ही करे। मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतंत्र होता है किंतु उसके द्वारा किए गए कर्मों का फल भगवान निष्पक्ष होकर देते हैं। जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है।

कहानी

एक बार संक्रांति के अवसर पर श्रीकृष्ण, गोपियों से ताजे गन्नों की भेंट स्वीकार कर रहे थे। गोपियों के साथ वहाँ उस समय द्रोपदी भी उपस्थित थीं और श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा भी थीं। सत्यभामा को बहुत अहंकार था अपने सौन्दर्य पर और इस बात पर भी कि वे श्रीकृष्ण से बहुत प्रेम करती थीं। सत्यभामा को शिक्षा देने के लिए श्रीकृष्ण ने जानबूझकर गन्ना काटते समय अपने हाथ की उँगली काट ली।

रक्त बहता देखकर सत्यभामा ने गोपियों से कहा कि वे घर के अंदर से कोई कपड़े का टुकड़ा ले आए ताकि उँगली पर बाँधा जा सके। द्रोपदी श्रीकृष्ण से बहुत प्रेम करती थीं, चिंता होने के कारण उन्होंने तुरंत अपनी साड़ी का पल्लू फाड़ा और उसका टुकड़ा श्रीकृष्ण की उँगली में बाँध दिया।

कई वर्ष पश्चात् जब दुर्योधन के दरबार में दुर्योधन का भाई दुःशासन द्रोपदी को अपमानित करते हुए उसका चीर खींचने लगा तब द्रोपदी ने कृष्ण का ध्यान किया तथा उनसे लाज बचाने की प्रार्थना की।

भगवान श्रीकृष्ण ने सोचा कि क्या द्रोपदी ने ऐसा कोई कर्म किया है, जिसके फलस्वरूप उसकी रक्षा की जा सके? क्या वह सहायता पाने के योग्य है? फिर उन्हें याद आया कि

द्रोपदी ने एक बार अपना साड़ी का पल्लू फाड़कर उनकी घायल उँगली पर बाँधा था और यह सेवा कार्य बिना किसी स्वार्थ के केवल पवित्र प्रेम के वश होकर किया गया था। उन्होंने सोचा कि उसकी सहायता की जा सकती है।

तब श्रीकृष्ण अपनी उसी छोटी उँगली से द्रोपदी का चीर बढ़ाते चले गए। दु:शासन तो खींचते-खींचते थक गया पर चीर समाप्त होने को नहीं आ रहा था। अंत में थकान के कारण उसने अपनी इस बुरी चेष्टा को रोक दिया।

इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म अनुसार ही ईश्वर फल देते हैं। इसलिए बिना फल

की आशा किए अच्छे-अच्छे कार्य करते रहना चाहिए।

एक गेंद को दीवार पर जितनी जोर से मारा जाए, उतने ही वेग से वह पलट कर वापस आती है।

"शिक्षा केवल शाब्दिक ज्ञान नहीं है। इसे मनुष्य को अपना अन्तर्निहित दिव्यत्व प्रकट करने के योग्य बनाना चाहिए। इसे सत्य और धर्माचरण के अभ्यास को बल प्रदान करना चाहिए। दुर्भाग्यवश, आज शिक्षा संस्थाएँ केवल डिग्रीधारकों के उत्पादन की कार्यशालाएँ बन गई हैं। डिग्री प्राप्त करना शिक्षा नहीं हो सकता। शिक्षा से आचरण में परिष्कार आना चाहिष्ट। इससे आत्म संयम विकसित होना चाहिए। यह शिक्षा का आवश्यक कार्य है।"

2. श्लोक -

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्वनोति नैष्ठिकीम्।

अयुक्तः कामकारेण फलेसक्तो निबध्यते ।।5-12।।

शब्दार्थ -

युक्तः	-	भक्ति में लगा हुआ, निष्काम कर्मयोगी
त्यक्त्वा	-	त्यागकर
आप्रोति	-	प्राप्त करता है
अयुक्तः	-	भक्तिविहीन, अस्थिर चित्तवाला व्यक्ति
सक्त	-	आसक्त होकर
कर्मफलं	-	कर्म का फल
नैष्ठिकीम्	-	भगवान निष्ठा के कारण,
फले	-	फल में
कामकारेण	-	इच्छाओं के कारण
निबध्यते	-	बँधता है

संदर्भ - यह श्रीमद्भगवद्गीता के पाँचवें अध्याय का बारहवाँ श्लोक है। इस अध्याय में सांख्ययोगी अर्थात् ज्ञानी तथा कर्मयोगी के लक्षण बताए हैं। उनका महत्व बताया है। इसी अध्याय में भक्ति व ध्यान के संबंध में भी चर्चा की गई है।

प्रसंग - भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मयोग के बिना संन्यास आना असम्भव है।

निश्चय ही ज्ञान की अग्नि समस्त कर्मों को उसी प्रकार जलाकर भस्म कर देती है जैसे अग्नि में ईंधन भस्म हो जाता है, किंतु कर्मयोग के बिना कर्तापन का त्याग होना असम्भव है। जब तक यह भाव रहेगा कि "मैं कर्म कर रहा हूँ।" तब तक फल भी उसी को मिलेगा। जो फल के विषय में न सोचते हुए, निष्काम भाव से सारे कर्तव्य की पूजा कर सकते हैं और मन ही मन ईश्वर के स्वरूप का चिंतन करते रहते हैं वे ही सांसारिक बंधन से मुक्त होकर परमात्मा में लीन होते हैं।

ऐसे व्यक्ति न किसी से राग रखते हैं ना ही द्वेष। न किसी से कोई अपेक्षा रखते हैं. ना ही दु:खी होते हैं इनका मन व इनकी इंद्रियाँ इनके वश में होती हैं। ऐसे लोग संन्यासी ही समझे जाने योग्य हैं।

श्लोक का अर्थ - ईश्वर में भक्ति रखने वाला निष्कामी व्यक्ति कर्मफल का त्याग करके भगवान में निष्ठा होने के कारण परम शांति को प्राप्त करता है किंतु जो भगवान से नहीं जुड़ा है। अस्थिर चित्तवाला वह व्यक्ति अपनी इच्छाओं के कारण एवं कर्मफल में आसक्ति रखने के कारण संसार के बंधन में पड़ जाता है।

व्याख्या - यहाँ पर संसारी व्यक्ति तथा कर्मयोगी की परिणति बताई गई है। सांसारिकता में फंसे रहने का क्या परिणाम होता है और ईश्वर भक्ति में लीन पुरुष को क्या प्राप्त होता है।

सांसारिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों में ईश्वर के प्रति सच्ची निष्ठा नहीं होती। वे अपने मन व इन्द्रियों के दास बने रहते हैं। इच्छाएँ इन्हें बेचैन किए रहती हैं। इच्छाएँ अर्थात् 'काम के कारण क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, लोभ जैसे दुर्गुण भी इनके साथ लग जाते हैं। ये जो भी कर्म करते हैं कुछ न कुछ स्वार्थपूर्ति के लिए। परोपकार भी करते हैं तो यश व मान पाने की

आशा से। कहने का तात्पर्य यह कि ये भी कर्म करते हैं, फल में आसक्ति रखकर करते हैं। फलासक्ति ही सांसारिक लोगों के जन्म-मरण के बंधन का कारण बनती है।

कर्मयोगी के साथ ऐसा नहीं होता। योग का अर्थ होता है जुड़ना, समर्पण, विलय। कर्म और कर्ता में जब घनिष्ठता बढ़ जाती है तो वह कर्मयोग कहलाता है। जब कर्ता पूरी तल्लीनता के साथ पूरे मनोयोग से अपने कर्म में इतना जुट जाता है कि उसे अपने मन, इंद्रियों व देह का कुछ भान नहीं रहता, ऐसा व्यक्ति ही कर्मयोगी कहलाता है।

जो सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और फल की आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, अपनी स्वयं की इच्छाओं का त्याग करते हुए कर्म करता है, वह कमल के पत्ते की भाँति है जो जल में रहते हुए भी अपने ऊपर जल को टिकने नहीं देता। उसको देखने में ऐसा लगता है कि वह सांसारिक कार्यों में लिप्त है पर वह लिप्त नहीं होता। उसके शरीर की इंद्रियाँ अपना-अपना कार्य करती रहती हैं पर मन कर्मों में आसक्त नहीं होता। सब कुछ करते हुए भी मानो वह कुछ नहीं करता। जो करता है, ईश्वर करता है। जो होता है, ईश्वर की इच्छा से होता है। उसमें कर्तापन 'मैं' का भाव नहीं होता।

सत्कर्म करना उसका सहज स्वभाव बन जाता है। जैसे वृक्ष फल उत्पन्न करते हैं पर 'फल कोई खाएगा या नहीं, या फिर ऐसे ही सूख कर झड़ जाएँगे यह विचार नहीं करता। सूर्य का सहज स्वभाव है प्रकाश बिखेरना। वह तो स्वयं प्रकाशवान है, इसलिए जो भी उसके मार्ग में पड़ता है उसे प्रकाश अपने आप मिल जाता है। माँ अपने बच्चे के लिए अनेक कष्ट झेलती है। उसका पूरा-पूरा ध्यान रखती है पर उसमें अहंकार नहीं आता कि मैं इस बच्चे के लिए यह सब कर रही हूँ। वात्सल्य उड़ेलना माँ का सहज स्वभाव है।

ऐसा ही होता है कर्मयोगी, जिसका प्रत्येक सत्कर्म परोपकार दूसरों का कल्याण करना सहज स्वभाव बन जाता है। अवसर आने पर परोपकार उससे अपने आप ही हो जाता है। फल की उसे चिंता नहीं होती।

कर्मयोग में त्याग का होना आवश्यक है। जैसे फल का त्याग, आसक्ति का त्याग, इच्छाओं का त्याग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर जैसे दुर्गुणों का त्याग। जिसने इन सबको त्याग दिया है। अहंकार को त्याग दिया है। उसके कर्म 'अकर्म' बन जाते हैं। वह

जीवनमुक्त बन जाता है, परम शांति प्राप्त होती है और बाद में सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर भगवत प्राप्ति होती है।

लघुकथा 1

एक बार कात्यायन मुनि ने देवर्षि नारद से पूछा, "भगवान! आत्म कल्याण के लिए विभिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न उपाय बताए हैं जैसे जप, तप, त्याग, वैराग्य, योग, स्वाध्याय, तीर्थ, व्रत, ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि किंतु एक व्यक्ति के लिए इन सबको कर पाना सम्भव नहीं है। फिर साधारण लोग तो निर्णय भी नहीं कर पाते कि क्या करें? आप ही कोई सर्वसुलभ मार्ग बताइए।"

नारदजी ने कहा, "हे मुनिवर! मनुष्य संयमी होकर सत्कर्मों में लगे सत्परवृत्तियाँ स्वयं में उत्पन्न करे। अपना कल्याण करे और विश्व का कल्याण करे। परोपकार व सेवा में लगे रहना ही सर्वश्रेष्ठ कर्म है।"

लघुकथा - 2

एक गोरा नाम का कुम्हार था। मटके बनाया करता था। उसे इस कार्य में बहुत आनंद आता था। जिन लोगों को अपने मिट्टी के मटके बेचता था। उन्हें ईश्वर तुल्य समझता था। जरा भी बेईमानी नहीं करता। वह सोचता था कि घड़े इतने मजबूत बनें कि कई पीढ़ियाँ उसका लाभ उठा ले। उसे इस बात की भी चिंता नहीं थी कि उसके ऐसा करने

से उसके धंधे पर बुरा असर पड़ सकता है। घड़ों के लिए मिट्टी रौधने में इतना तल्लीन हो जाता कि अपनी थकान भी अनुभव नहीं करता, बस भगवान का नाम लेता जाता और काम में तल्लीन रहता, उसी में उसे आनंद व संतोष मिलता। बाद में उसे ईश्वर की प्राप्ति हुई।

कर्म तभी सार्थक होता है जब उसमें तल्लीनता हो। विद्यार्थियों को भी चाहिए कि वे जो भी करें चाहे परिवार के लिए या पड़ोस के लिए, चाहे समाज या राष्ट्र के लिए पूरे समर्पण भाव से करें। मनोयोग से करें, तभी उनका विद्यार्थी जीवन सार्थक होगा।

3. **श्लोक -**

ब्रह्मार्पणं ब्राहविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।।4-24।।

शब्दार्थ -

ब्रह्म - परमात्मा

अर्पणं - अर्पित करना

हविः - हवन सामग्री

अग्नौ - अग्नि में

ब्रह्मणाहुतं - ब्रह्मरूपी कर्ता के द्वारा हवन करने की क्रिया

तेन - उसके द्वारा

गन्तव्यं - लक्ष्य

ब्रह्मैव - ब्रह्म ही है

ब्रह्मकर्मसमाधिना -जो ब्रह्म कर्म में लीन है या लगा हुआ है

संदर्भ - यह चौथे अध्याय का चौबीसवाँ श्लोक है। इस अध्याय को ज्ञान कर्मसंन्यास योग का नाम दिया गया है। इसमें योगी महात्माओं के लक्षण व उनकी महिमा का वर्णन है। सात्विक, राजसिक व तामसिक गुणों से युक्त होकर किए जाने वाले अनेक प्रकार के यज्ञ बताए गए हैं। साथ ही ज्ञान की महिमा बताई गई है।

प्रसंग - भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि कर्म की गति बहुत गहरी होती है. इसलिए जो मुक्ति चाहता है, उसे कर्म को बहुत सूक्ष्मता से समझना चाहिए।

अपने कर्तव्यों का पालन करना 'स्वधर्म है। ये सकाम भाव से भी किए जाते हैं तथा निष्काम भाव से भी किए जाते हैं। सकाम भाव से किए जाने वाले कर्म बंधन का कारण बनते हैं। ईश्वर भक्ति से रहित होकर और न करने योग्य अर्थात् जिनका शास्त्रों में निषेध है, ऐसे किए जाने वाले कर्म विकर्म होते हैं।

और जो कर्म फल की आसक्ति से रहित होकर किए जाते हैं। निष्काम भाव से ईश्वर की पूजा समझ कर किए जाते हैं तथा सहज भाव से स्वतः होते रहते हैं, ऐसे कर्म 'अकर्म' बन जाते हैं। ये अ-कर्म (करते हुए भी न करने जैसा) मुक्ति देते हैं मनुष्य को

जिनका चित्त सदा परमात्मा में लगा रहता है, उनके सारे कर्म परमात्मा की प्रसन्नता के लिए होते हैं। ऐसे व्यक्ति व्यक्तिगत इन्द्रिय सुखों की इच्छा नहीं रखते। वे जीवन निर्वाह के लिए भी जो कर्म करते हैं, उसे नीति से करते हैं और जो कुछ भी मिल जाता है, उसी से संतुष्ट रहते हैं। वे जानते हैं कि सब कुछ ईश्वर की इच्छा से होता है। करने वाले, कराने वाले केवल ईश्वर हैं, वह तो ईश्वर का उपकरण मात्र है। ऐसा ज्ञानी केवल सत्कर्म करता है और उसके सत्कर्म ही यज्ञ बन जाते हैं, क्योंकि यज्ञ का उद्देश्य परमात्मा को प्रसन्न करना है।

श्लोक का अर्थ - (ब्रह्म में लीन रहने वाला जानता है कि सब कुछ ब्रह्ममय है वह जानता है कि) यज्ञ में सब कुछ ब्रह्म ही है। यज्ञ में आहुति देने वाला ब्रह्म ही है। अग्नि जिसमें आहुति दी जाती है, वह ब्रह्म है। हवन सामग्री भी ब्रह्म है। हवन करने की क्रिया भी ब्रह्म है। इस प्रकार से किया गया यज्ञ ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

(ब्रह्म ज्ञानी के सभी कर्म यज्ञ बन जाते हैं और उनके फल ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं।)

व्याख्या - वेद उपनिषद कहते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जैसे गन्ने के रस में मिठास व्याप्त रहती है। उसी प्रकार परमात्मा इस सारे संसार में व्याप्त है। वही इस सृष्टि की रचना के द्वारा स्वयं को व्यक्त करता है। एकमेव द्वितीयो नास्ति। उस एक ब्रह्म के अलावा दूसरा कुछ है ही नहीं। जिस प्रकार अंधेरे में पड़ी रस्सी सर्प समझ में आती है पर प्रकाश होते ही वास्तविकता पता चलती है कि यह तो रस्सी है। इसी प्रकार माया के आवरण के कारण और अज्ञान रूपी अंधकार सत्य का पता नहीं चलता। संसार में विभिन्नता दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार से स्वर्ण भिन्न-भिन्न आकृतियों वाले आभूषणों के रूप में भिन्न भिन्न नाम ग्रहण करता है उसी प्रकार इस संसार की समस्त रचनाएँ भिन्न-भिन्न आकृतियाँ, गुण, स्वभाव व रूप के कारण एक-दूसरे से भिन्न मालूम पड़ती है, पर होती नहीं। सभी में परब्रह्म शुद्ध चैतन्य के रूप में समाया हुआ है। नदियों के रूप में गहरे सागर के रूप में, विशाल पर्वतों के रूप में, पशु-पक्षी, मनुष्य व अन्य

प्राणियों के रूप में गृह-नक्षत्र-तारों के रूप में गृह-नक्षत्र-तारों के रूप में, पृथ्वी पर अन्न के रूप में एक वही परब्रह्म व्याप्त है। जो ज्ञानी जन परमात्मा की इस सर्वव्यापकता का अनुभव कर लेते हैं, उनके सारे कर्म परमात्मा के लिए होते हैं। परमात्मा की इच्छा से होते हैं।

ब्रह्मज्ञानी यह भी अनुभव कर लेते हैं कि यह परमात्मा सत्, चित और आनंद के रूप में स्वयं प्रकट करता है।

सत् जो सदा है तीनों कालों में है। जो अपने आपको जानता है स्वयं प्रकाशित है तथा अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है वह चित है, चेतन तत्व है और जो प्रत्येक को प्रिय है, वह है आनंद। ब्रह्मज्ञानी परमात्मा के इस सच्चिदानंदघन रूप का अनुभव करते हुए स्वयं भी सत् चित आनंद स्वरूप बन जाते हैं। इनका देहात्म भाव समाप्त हो जाता है। ये जीवन मुक्त होते हैं। संसार मेंहोते हुए भी संसार से अलग रहते हैं। जिधर देखते हैं केवल ब्रह्म के दर्शन करते हैं। ये न तो कर्ता होते हैं और न भोक्ता। इनके द्वारा किए गए कर्म और कर्मों के फल भी ब्रह्म में ही विलीन हो जाते हैं।

कहानी

लगभग सात सौ वर्ष पूर्व महराष्ट्र के एक गाँव में विट्ठलपंत तथा रुक्मणिबाई नामक दम्पति रहते थे। ये दोनों बड़े ही धार्मिक प्रवृत्ति के थे। विवाह के कुछ समय बाद ही संसार से मन में विरक्ति आने के कारण विठ्ठलपंत एक दिन चुपचाप काशी चले गए। वहाँ एक महात्मा की शरण ली। उन्हें गुरु मान कर उनसे संन्यास दीक्षा ले ली। एक दिन महात्माजी विठ्ठलपंत के गाँव आए। वहीं जब रुक्मणिबाई ने उनके चरण छुए तो उन्होंने आशीर्वाद दिया कि "सौभाग्यवती रहो, पुत्रवती बनो।" काशी वापस आने पर जब उन्हें ज्ञान हुआ कि विठ्ठलपंत रुक्तमणिबाई के पति हैं तो उन्होंने विट्ठलपंत को गृहस्थ आश्रम में लौटने की आज्ञा दी। गुरु आज्ञा से वे गाँव लौट आए।

हिन्दू प्रथा के अनुसार संन्यासी यदि गृहस्थ आश्रम को फिर से अपनाता है तो उसे क्षमा नहीं किया जाता। फलस्वरूप इन्हें भी जाति से बाहर कर दिया गया। गाँव वालों ने इन्हें बहुत कष्ट दिए।

कष्टों के बीच दुःखी जीवन बिताते हुए भी इनकी भक्ति में कमी नहीं आई। इनके चार संतानें हुईं। निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपान तथा एक कन्या मुक्ता नाम की।

चारों बच्चे बचपन से ही बड़े ज्ञानवान थे। ज्ञानेश्वरीजी ने छोटी सी आयु में ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया था। वे ब्रह्मज्ञानी बन चुके थे।

बड़े भाई निवृत्तिनाथ को ही इन्होंने गुरु मान लिया था, निवृत्तिनाथ भी ज्ञान में कम नहीं थे।

जब इनके उपनयन संस्कार का समय आया तो गाँव के ब्राह्मणों ने संस्कार करने से इंकार कर दिया तब ये दोनों भाई पैठण के ब्राह्मणों के पास पहुँचे। वहाँ ब्राह्मणों ने भी इनका मजाक उड़ाया और समीप में ही खड़े भैंसे की तरफ इशारा करके कहा कि तुम्हारा उपनयन संस्कार तो ये भैंसा भी कर देगा। ज्ञानेश्वरजी को प्रेरणा हुई और वे भैंसे से वेदमंत्रों का उच्चारण करने की प्रार्थना करने लगे। सब आश्चर्यचकित रह गए क्योंकि भैंसा सचमुच वेदमंत्र बोल रहा था।

ब्राह्मण इनके पैरों पर गिरकर क्षमा माँगने लगे सब इन्हें महान संत मानने लगे। संत ज्ञानेश्वरजी ने भक्ति और ज्ञान का प्रसार सब तरफ किया। "ज्ञानेश्वरी" नामक पुस्तक इन्होंने लिखी थी जो गीता की ही भाँति पूजी जाती है। तेईस वर्ष की आयु में ही इन्होंने ध्यानस्थ होकर अपनी देह त्याग दी पर उनकी स्मृति आज भी अमर है। संत ज्ञानेश्वरी ऐसे ही ब्रह्मज्ञानी थे जिन्होंने भैसें में भी लोगों को ब्रह्मा के दर्शन करा दिए थे।

सारांश यह कि सभी तो ब्रह्मज्ञानी नहीं हो सकते, किंतु निःस्वार्थ भाव से मानव सेवा व परोपकार करते हुए, सात्विक कर्म करते हुए मानव-जीवन को सार्थक किया जा सकता है।

4. श्लोक -

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।

असक्तो हि आचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः।।3-19।।

शब्दार्थ -

तस्मात्	-	इसलिए
सततं	-	निरंतर
कर्म	-	कर्तव्य
समाचार	-	भलीभाँति करना
असक्तः	-	आसक्ति रहित
कार्यम्	-	करना
आचरन्	-	करता हुआ
आप्नोति	-	प्राप्त करता है
परम पुरुष	-	परमात्मा

संदर्भ - यह श्रीमद्भगवद्गीता के तृतीय अध्याय का उन्नीसवाँ श्लोक है। इसमें अनासक्त भाव से कर्तव्य कर्म करने पर बल दिया गया है। यज्ञ आदि कर्म करने की आवश्यकता बताई गई है। अज्ञानी तथा ज्ञानी के लक्षण बताए हैं। साथ ही आसक्ति से रहित होकर कर्म करने के लिए प्रेरणा दी गई है।

प्रसंग - श्री गीताजी के द्वितीय अध्याय में वर्णन है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सांसारिक व्यक्तियों तथा समत्व बुद्धि वाले भक्त ज्ञानीजनों के लक्षण बताए थे।

देहात्म भाव वाले व्यक्तियों का मन चलायमान होता है जिस प्रकार जल में चलने वाली नाव तेज हवा के झोंके से डगमगाने लगती है, उसी प्रकार सांसारिक विषयों मे तीव्र आसक्ति रखने वाले व्यक्तियों का मन स्थिर नहीं रहता । उनका मन भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति में लगा रहता है। कभी यह चाहिए तो कभी वह ऐसे लोग सुख व शांति नहीं पाते।

इसके विपरीत जिसने अपने चित्त को स्थिर करके ईश्वर में लगा दिया है वह इन्द्रिय विषयों से अपने मन को ठीक उसी प्रकार हटा लेता है जैसे खतरे का आभास होते ही कछुआ अपने समस्त अंगों को अपने खोल में समेट लेता है। ऐसे स्थिर बुद्धि वाले लोग मन को अंतरमुखी बनाकर भगवद्भक्ति में लगे रहते हैं। किसी भी प्रकार का विकार न होने के कारण परम शांति को प्राप्त करते हैं।

तृतीय अध्याय में वर्णन है कि ऐसा सुनकर अर्जुन ने कहा कि, "हे जनार्दन! यदि ज्ञान इतना श्रेष्ठ है तो मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं?"

तब श्रीकृष्ण ने समझाया कि कोई भी मनुष्य किसी भी काल में कर्म किए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि सारे मनुष्य सतोगुण, तमोगुण तथा रजोगुण से प्रभावित रहते हैं। ये त्रिगुण इन्हें कर्म करने को बाध्य करते हैं।

इसीलिए जो लोग सांसारिक सुख भोगना चाहते हैं। इंद्रिय तृप्ति में लगे रहते हैं। कामनाओं के वशीभूत होकर सकाम कर्म करते रहते हैं, उनके लिए यज्ञ अनुष्ठान आदि का नियोजन किया गया है ताकि यज्ञ आदि कर्मकाण्डों के द्वारा वे पुण्य लाभ कमा सकें।

किंतु जो मनुष्य मन, इंद्रियों को वश में करके उन इंद्रियों के द्वारा निष्काम करते हैं। वे ही श्रेष्ठ हैं।

कर्म का त्याग नहीं किया जा सकता. इसलिए फल का त्याग कर देना चाहिए। कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है इसलिए स्वधर्म का पालन करना चाहिए। कर्त्तव्य पालन करना चाहिए।

श्लोक का अर्थ - श्रीकृष्ण कहते हैं कि इसलिए तुम आसक्ति से रहित होकर निरंतर कर्तव्य कर्म को भलीभाँति करो, क्योंकि बिना आसक्ति के कार्य करने वाला अनासक्त व्यक्ति परम उच्च अवस्था को प्राप्त करता है।

व्याख्या - श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, कुरुक्षेत्र में युद्ध करे क्योंकि युद्ध करना क्षत्रिय धर्म है। धर्म की रक्षा करना क्षत्रिय का कर्तव्य है। अर्जुन कर्तव्य का पालन करे किंतु अनासक्त भाव से। अहंकार, ममकार, ईर्ष्या, घृणा अथवा मोह सबको छोड़कर युद्ध करे। देह-आसक्ति से भक्ति व ज्ञान में कमी आती है फिर कर्म दूषित होने लगते हैं। दुष्परिणामों के कारण मन की शांति छिन जाती है।

ज्ञान प्राप्ति के लिए सत्संग करना चाहिए सज्जनों का और सद्ग्रंथों का। स्वाध्याय, मनन और ज्ञान की क्रिया द्वार अभ्यास मन को पवित्र बनाता है। पवित्र मन से किए गए कार्य शांति प्रदान करते हैं।

जीवन का परम लक्ष्य शांति प्राप्त करते हुए परमात्मा को पाना है। इसलिए ईश्वर के प्रति समर्पण भाव से, ईश्वर की इच्छा जानकर, उसी की प्रसनता के लिए पूरी निष्ठा व तल्लीनता के साथ फल की चिंता किए बिना कर्तव्य पालन करना चाहिए।

तो जिस प्रकार से श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग की दीक्षा दी, उसी प्रकार हर मनुष्य को कर्मयोगी बनना चाहिए। वह जो भी कर्म करे, उसके व्यक्तित्व का परिष्कार करने वाला हो। आध्यात्मिक ऊँचाई पर ले जाने वाला हो ।

कहानी

जानश्रुति नाम का एक राजा था। वह बहुत न्यायी, सत्यवादी, दानवीर, प्रजा वत्सल था। प्रतिदिन सैकड़ों दुधारू पशु, अन्न, वस्त्र इत्यादि का दान करके ही भोजन ग्रहण करता था।

दानशीलता में उसकी टक्कर का कोई नहीं था। फिर भी उसकी आत्मा में शांति नहीं थी।

एक दिन वह प्रजा की सही-सही स्थिति का जायजा लेने के लिए वेष बदलकर राज्य में भ्रमण कर रहे थे, तभी उधर से दो व्यक्त बातचीत करते हुए निकले। एक कह रहा था कि, ”राजा बहुत अच्छे हैं, हमें किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है। उनकी दानशीलता की कोई सीमा नहीं।”

दूसरे ने कहा, ”हाँ! फिर भी उनके मन में शांति नहीं है। उनसे तो वह गाड़ीवाला अधिक उत्तम है जिसने इस लोक की तो क्या परलोक की शांति भी प्राप्त कर ली है।”

जानश्रुति ने जब यह सब सुना तो वह गाड़ीवान को मिलने के लिए लालायित हो उठा।

पता लगाने पर मालूम पड़ा कि गाड़ीवान का नाम रैक्व है। वह संत बन गया है। छोटी-सी कुटी में रहता है। राजा अनेक बहुमूल्य उपहार गाय, घोड़े व स्वर्ण मुद्राएँ इत्यादि लेकर रैक्व के पास पहुँचे। उसको प्रणाम करके बोले, "यह तुच्छ भेंट आपके पास लाया हूँ, स्वीकार कीजिए।"

रैक्व ने मधुर मुस्कान के साथ कहा कि, "तुम आध्यात्मिक ज्ञान पिपासा के लिए आए हो तो इन भौतिक वस्तुओं को क्यों लाए हो। यह सब राजमहलों में ही शोभा देता है। जिज्ञासा शांति के लिए तुम्हारा अकेले आना ही पर्याप्त था। इन्हें लौटा ले जाओ।" जनाश्रुति आश्चर्यचकित हो गए रैक्व की विरक्ति देखकर।

उनके हृदय में रैक्व के प्रति श्रद्धा व निष्ठा के भाव उत्पन्न हों गए। उनका भी मन विरक्त होने लगा।

प्रातःकाल जब चारण लोग उनका गुणगान करने आए तो राजा को वह सब व्यर्थ लगा। उन्होंने अपनी प्रशंसा में गाए जाने वाले गीतों को रुकवा दिया। उन्हें यह सब सारहीन लगा क्योंकि उनके सेवकों ने बताया था कि हजारों लोग गाड़ीवान के पास पहुँचते हैं अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर और असीम शांति व मानसिक उल्लास लेकर लौटते हैं।

राजा फिर रैक्व से मिलने को लालायित हो गए और चल पड़े। आज कोई भेंट, चढ़ावा या फौज कुछ साथ नहीं था। हृदय में अपार वेदना और मन में ज्ञान पाने की प्यास। रैक्व

उन्हें देखकर प्रसन्न हुए. बोले, "आज आपने शांति का मार्ग पा लिया है अब उस पर चल पड़ो।"

"कैसे प्रभो?"

”आज तक आपने जो भी दान-पुण्य किए प्रशंसा पाने के लिए या फिर प्रजा की सेवा करने के भाव से किए। राज्य के सुख-साधन मत छोड़ो, केवल आसक्ति का त्याग करिए, सेवक बन कर राज्य करिए।

सुख साधनों का भोग करिए तो इस भाव से कि यह उस शरीर के पोषण के लिए है जिस शरीर पर सारे देश की सुरक्षा का भार है।

दान करिए तो यह सोचकर कि परमात्मा ने आपको यह सब वस्तुएँ इसलिए दी हैं ताकि उन पीड़ित व असहाय लोगों तक पहुँचा सकें जो इन वस्तुओं के वास्तविक अधिकारी हैं। आप स्वयं को कर्ता न मानकर, ईश्वर का माध्यम मान लें। आत्मा में असीम शांति का

भण्डार हैं। जब ऐसा भाव पक्का हो जाएगा, आपको शांति प्राप्त हो जाएगी।”

तत्वज्ञानी रैक्व का एक-एक शब्द जानश्रुति के हृदय की गहराई में बैठ गया। उसमें महान परिवर्तन आया। उसे लगा कि वह अभी तक अंधेरे में भटक रहा था। यह साधारण-सा दिखने वाला व्यक्ति गाड़ीवान कितना आनंद का वैभव लुटा रहा है लोगों में और एक मैं?

कुछ दिनों में लोगों ने देखा, अनुभव किया कि राजा जानश्रुति अब उस प्रकार के अहंकारी, गर्वीले राजा नहीं थे। अशांत नहीं थे। अब तो उनकी आत्मा की शांति का श्रोत बाहर प्रकट हो रहा था, क्योंकि उन्होंने जो ज्ञान पाया उसे ही अब व्यवहार में ला रहे थे।

जो व्यक्ति इसी प्रकार की भावना रखकर अपने कर्त्तव्य पूरे करता है वही उच्च परम अवस्था को प्राप्त होता है।

5. श्लोक -

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।9-27 ।।

शब्दार्थ -

यत्	-	जो
करोषि	-	करते हो
यत	-	जो
अन्नासि	-	जो खाते हो
यत् + जुहोषि	-	जो भी हवन अर्पण करते हो कुछ
यत् + तपस्याति	-	जो भी तप करते
कौन्तेय	-	कुंती पुत्र
तत्	-	वह
कुरुष्व	-	करो
मत्	-	मुझे

अर्पणम् - अर्पण, समर्पित

संदर्भ - यह श्लोक श्री गीता के नवमें अध्याय से लिया गया है। इस अध्याय में ईश्वर के निर्गुण तत्व और इस जगत के विषय में बताया गया है। जगत जो सत्य नहीं है। ईश्वर का प्रतिबिम्ब मात्र है। शुद्ध भक्ति के द्वारा किस प्रकार भगवान के सहज, सुलभ, सगुण साकार स्वरूप को सरलता से पाया जा सकता है, इसका उपाय बताया है और फिर से निष्काम भक्ति पर ही जोर दिया गया है।

प्रसंग - इस अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम दोषरहित हो, इसलिए परम गोपनीय विज्ञान सहित ज्ञान को मैं तुम्हें फिर से भलीभाँति समझाऊँगा, जिसे जानकर तुम इस दुःखद संसार से मुक्त हो जाओगे।

उन्होंने समझाया कि जिस प्रकार आकाश से उत्पन्न और सब जगह विचरण करने वाला वायु सदा आकाश में ही स्थित है, क्योंकि आकाश तो अनंत है, असीम है। उसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड और ये सारे प्राणी मुझमें ही व्याप्त हैं। ये सब मेरे ही संकल्प पर आधारित हैं।

कल्पों के अंत में सब प्राणी मुझमें ही विलीन हो जाते हैं और कल्प के प्रारम्भ में मैं इन्हें फिर से रचता हूँ। मैं ही सबमें व्याप्त हूँ और सब मुझमें व्याप्त हैं अर्थात् में सर्वत्र हूँ। अपनी योगमाया के द्वारा छिपा हुआ मैं सबके सामने प्रकट नहीं होता. इसलिए अज्ञानी लोग मुझे पहचान नहीं पाते और साधारण मनुष्य ही समझते हैं परंतु जो दैविक गुणों से युक्त महात्मा लोग हैं, वे मेरे स्वरूप को पहचान कर अनन्य भाव से मुझे पूजते हैं। निरंतर भजते हैं।

मैं ही सबका भरण-पोषण करने वाला, सबका स्वामी, शरण लेने योग्य, शुभ-अशुभ देखने वाला, बदले में उपकार न चाहकर सबका हित करने वाला, सबकी उत्पत्ति व प्रलय का कारण, स्थिति का आधार हूँ।

मैं ही सूर्य के रूप में तपता हूँ। मैं वर्षा का कारण हूँ। सब कुछ मैं ही हैं। संसार का ये चक्र मेरे ही कारण घूम रहा है। करने वाला मैं हूँ। यज्ञ मैं हूँ, स्वधा भी मैं ही हूँ। हवन रूपी क्रिया भी मैं ही हूँ।

सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ, जो मुझे तत्वतः नहीं जानते वे ही अपना

आत्मिक पतन करते हैं तथा पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं।

श्लोक का अर्थ - इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि, "हे कुन्तीपुत्रा तुम जो भी कर्म करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान करते हो और जो तप करते हो, वह सब मुझे ही अर्पण कर दो।"

व्याख्या - पूर्व में भी कहा गया है कि जब तक हम इस संसार में हैं, कर्म करना अनिवार्य है। कर्म करना छोड़ा नहीं जा सकता। जीवन-निर्वाह के लिए भी कर्म करना पड़ता है इसलिए प्रत्येक को चाहिए कि पवित्र भावना से कर्तव्य कर्म करें, जो कर्म करें उसे भगवान को अर्पित करते हुए करें। जो खाएँ भगवान को भोग लगा कर खाएँ। दान करते समय अहंभाव का त्याग करें, यह न सोचें कि मैं दान कर रहा हूँ बल्कि ईश्वर ने उसे निमित्त बनाया है, देने वाला तो वह है। जिसे देता है, यह सोचकर न दें कि वह उस पर उपकार कर रहा है, बल्कि यह भावना हो कि उस व्यक्ति में स्थित ईश्वर को ही अर्पित कर रहा हूँ। जो भी यज्ञ अनुष्ठान किया जाए, वह अपनी इच्छापूर्ति के लिए नहीं बल्कि ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए करें।

ईश्वर को समझ पाना बहुत कठिन है किंतु इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि सम्पूर्ण स्थूल जगत जो दिखाई पड़ता है और सूक्ष्म जगत जो दिखाई नहीं पड़ता. अनुभव होता है जैसे मन, बुद्धि, चित्त, अंतःकरण। ये सब परमात्मा की सृजनात्मक शक्ति का ही परिणाम हैं। यह परमात्मा सर्वत्र है, सर्वव्यापी है।

जब सारे कर्म परमात्मा को अर्पित किए जाते हैं तो मन स्वच्छ दर्पण के समान हो जाता है। ऐसा मनुष्य ही आत्मिक प्रगति की ओर बढ़ता है।

विद्यार्थियों को भी चाहिए कि वे स्वयं में सत्य के प्रति निष्ठा , कर्तव्य के प्रति निष्ठा व नैतिकता का विकास करें। जीविकोपार्जन के लिए भौतिक ज्ञान की शिक्षा पाना आवश्यक हो जाता है परंतु युवा वर्ग को सांसारिकता अथवा भौतिकता में लिप्त नहीं होना चाहिए। काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष जैसे बुरे भावों से दूर रहकर अपने कर्तव्य पूरे करना चाहिए। ईश्वर तुल्य माता-पिता, गुरुजनों की सेवा करना स्वधर्म आचरण है। सामाजिक प्रगति के लिए निष्काम भाव से, समर्पण के साथ समाज की सेवा करना चाहिए क्योंकि यह समाज भी ईश्वर का प्रकट रूप है।

जो समर्पण भाव से जीवन भर ईश्वर के निर्देशों का पालन करता है। इस शरीर का उपयोग ईश्वर के लिए ही करता है वह मुक्त होकर भगवद्धाम पहुँचता है और भगवान की प्रत्यक्ष संगति में बना रहता है।

कहानी

जो अपने सारे कर्म ईश्वर को अर्पण करता है. भगवान उसका साथ किस प्रकार से देते हैं. यह निम्न कथा से स्पष्ट होता है।

महाराष्ट्र में जनाबाई नाम की एक महिला थी। वह जो भी करती सदा पांडरंग अर्पणं कहते हुए करती थी। अर्थात् में भगवान पांडुरंग को अर्पण करती हूँ। प्रतिदिन दोपहर

को जब सब भोजन कर चुकते तो भोजन करने के स्थान पर गोबर से लीपती स्वच्छता के लिए। बचा हुआ गोबर बाहर फेंक देती थी पर जब बाहर फेंकती थी तो उसके मुँह से 'पांडुरंगा अर्पण निकल जाता क्योंकि वह ऐसा बोलते हुए ही कार्य करने की अभ्यस्त हो गई थी। किसी परिणाम का विचार ही नहीं आता था उसके मन में।

उसी गाँव में पांडुरंग भगवान का मंदिर था। जनाबाई जब भी गोबर फेंकती, वह मंदिर में स्थापित पांडुरंगजी की प्रतिमा से चिपक जाता। मंदिर के पुजारी को बहुत क्रोध आ जाता था। उसने अपराधी को ढूंढने का निश्चय किया।

एक दिन ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे एक घर के समीप पहुँचे। वहाँ से पांडुरंगा अर्पणं' की आवाज सुनाई दी। उन्होंने जाकर देखा कि जनाबाई ऐसा बोलते हुए गोबर फेंक रही है। वे बहुत क्रोधित हुए समझ गए कि यह सब इसी के कारण हो रहा है। क्रोध में आकर पुजारी ने एक छड़ी उठाई और पूरे जोर से जनाबाई के दाहिने हाथ पर प्रहार किया। मारा इतनी जोर से था कि हाथ टूट जाता जनाबाई का किंतु चोट भी नहीं आई।।

छड़ी पटक कर वैसे ही क्रोधावेश में भरे पुजारी मंदिर लौटे। वहाँ पहुँच कर हत्प्रभ रह गए। देखा कि श्री पांडुरंग की मूर्ति का दाहिना हाथ नहीं है।... वह टूट कर नीचे गिर गया था।

पुजारी समझ गए कि जनाबाई कोई साधारण महिला नहीं है। अवश्य ही भगवान की महान भक्त है। वे फिर जनाबाई के पास वापस लौटे और क्षमा माँगने लगे।

इस घटना से यह ज्ञात होता है कि जब हर कार्य ईश्वर को समर्पित करते हुए किए जाते हैं तो वे शुद्ध हो जाते हैं और भक्त को शुभ-अशुभ फलों से बचाते हैं ।

भक्ति

1. श्लोक -

पुरुषः सः परः पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया।

यस्तांतः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।8-22।।

शब्दार्थ -

पुरुषः	-	पुरुष (ईश्वर के लिए)
सः	-	वह
परः	-	परम श्रेष्ठ
पार्थ	-	अर्जुन
भक्त्या	-	भक्ति से
लभ्यः	-	प्राप्त होने योग्य
अनन्ययाः	-	अविभाजित
यस्य	-	जिसके
अंतःस्थानि	-	अंतर्गत
भूतानि	-	प्राणीजन
येन	-	जिसके द्वारा
सर्वम्	-	सारा जगत
इदम्	-	यह
ततम्	-	परिपूर्ण है, व्याप्त है

संदर्भ - इस अध्याय को अक्षर ब्रह्म योग के नाम से जानते हैं। इस अध्याय में ब्रह्म तथा अध्यात्म के संबंध में समझाया गया है। देवयान मार्ग व पितृयान मार्ग क्या है? किस

प्रकार संत-महात्मा लोग देवयान मार्ग से स्वर्ग पहुँचते हैं और वहाँ से पुण्य भोगने के पश्चात् फिर धरती पर जन्म लेते हैं। कर्म से लिप्त मनुष्य पितृयान मार्ग पर जाते हैं। इस अध्याय में अनन्य भक्ति की महिमा भी बताई गई है।

प्रसंग - इस अध्याय में अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से सात प्रश्न पूछे - हे पुरुषोत्तम

मुझे बताइए कि

1. ब्रह्म क्या है?

2. आत्मा क्या है?

3. सकाम कर्म क्या है?

4. अधिभूत क्या है?

5. अधिदेव क्या है?

6. अधियज्ञ कौन है? वह शरीर में कैसे रहता है?

7. भक्ति में लगे हुए मनुष्य अंत समय में आपको कैसे जान पाते हैं?

भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि जो कभी न नष्ट होने वाला है और दिव्य है तथा नित्य है अर्थात् अपरिवर्तनशील है, वह ब्रह्म है जीवात्मा भी ब्रह्म है, किंतु भौतिक प्रकृति से मिलकर भिन्न-भिन्न स्थिति या स्वरूप तथा स्वभाव ग्रहण कर लेता है।

निरंतर परिवर्तित होने वाली यह भौतिक प्रकृति कहलाती है, अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की सगुण भौतिक अभिव्यक्ति।

भगवान का विराट रूप अधिदैव कहलाता है, जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड व्याप्त है तथा सूर्य और चन्द्र आदि सभी देवता जिनके अंतर्गत हैं।

प्रत्येक देहधारी के हृदय में परमात्मा के रूप में मैं स्थित हूँ और मैं ही अधियज्ञ अर्थात् यज्ञ का स्वामी कहलाता हूँ।

अर्जुन के सातवें प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा, "शरीर त्याग करते समय जो जिस प्रकार का भाव रखते हैं, वे मृत्यु के बाद उसी भाव को प्राप्त होते हैं। जो अंत समय में केवल मेरा स्मरण करते हैं, वे मेरे स्वभाव को पा लेते हैं। तत्पश्चात् शीघ्र ही परमधाम को पहुँचते हैं।

श्लोक का अर्थ - वह परम पुरुष जिनसे बढ़कर कोई नहीं है, जो सर्वव्यापी है और जिनके अंतर्गत यह सारा जगत स्थित है, वह तो अनन्य भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किए जा सकते हैं।

व्याख्या - यहाँ अनन्य भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया है। भगवान जो परब्रह्म परमेश्वर है. यद्यपि अपने धाम में ही रहते हैं तो भी अपनी योगमाया के द्वारा सर्वत्र व्याप्त हैं। वे भौतिक व आध्यात्मिक दोनों ही जगत में उपस्थित रहते हैं।

'यद्भावम् तद्भवति' जिसका जैसा भाव होता है, वह उसी के अनुसार फल पाता है। अंत समय में जो जिसका स्मरण करता है वह अगले जन्म में उसी स्वभाव को प्राप्त होता है।

राजा भर्तृहरि के द्वार एक हिरण मारा गया था, अपने अंत समय में उन्हें उसी हिरण का स्मरण हो आया। फलस्वरूप वे अगले जन्म में हिरण बने ।

किंतु जो जीवनपर्यंत परमेश्वर को भजते रहते हैं, उन्हीं का चिंतन करते रहते हैं, और अंत समय में भी उन्हीं को याद करते हैं। वे दिव्य स्वभाव को पाते हैं, और शीघ्र ही ईश्वर को प्राप्त होते हैं, उन्हें फिर इस कष्टदायी संसार में आना नहीं पड़ता।

पवित्र हृदय वाला भक्त कोई भौतिक इच्छा नहीं रखता। वह सदा ईश्वर का ही चिंतन करता रहता है. उन्हीं की सेवा करते हुए उन्हीं को प्रसन्न करता रहता है। ऐसा करने में ही उसे आनंद प्राप्त होता है।

ऐसे भक्त को न तो परलोक की इच्छा होती है, न भौतिक जगत की, वह तो बस भगवान का सामीप्य चाहता है। ऐसे भक्त को अपनी मृत्यु की भी चिंता नहीं होती। वह सब कुछ ईश्वर पर छोड़ देता है।

ईश्वर बड़े ही दयालु हैं वे ऐसे भक्तों को इस प्रकार की बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वे सरलता से इस संसार से मुक्त होकर परमधाम पहुँच जाते हैं। कहानी

प्राचीनकाल में हिरण्यकश्यप नाम का दानव राजा था। उसके अंदर अमर होने की कामना जागी, इसलिए उसने घोर तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी प्रकट हुए और वरदान माँगने को कहा। उसने बड़ी चतुराई के साथ वरदान माँगा कि -

”संसार का कोई भी प्राणी उसे न मार सके। उसकी मृत्यु न घर के अंदर हो न घर के बाहर। वह न दिन में मरे न रात में। उसकी मृत्यु न घरती पर हो ना आकाश में। ना ही

किसी शस्त्र से वह मारा जाए।” ब्रह्माजी ने उसे वरदान दे दिया।

अमरता का ऐसा वरदान पाकर वह बहुत घमण्डी हो गया, उसने घोषणा करवा दी कि वह सर्वशक्तिवान है, अमर है अतः उसी की पूजा की जाए।

जो भी कोई ईश्वर का नाम लेता, उस पर वह बहुत अत्याचार करता था। लोगों ने भय के कारण ईश्वर का नाम लेना छोड़ दिया।

किंतु उसका पुत्र प्रहलाद भगवान विष्णु का परम भक्त था। उसे बड़ा आश्चर्य होता था कि पिता विष्णुजी को अपना शत्रु क्यों कहते हैं, जबकि वे तो संसार के पालनक्ता हैं वह निर्भय होकर भगवान विष्णु की आराधना में लगा रहता। पिता के द्वारा मना करने पर भी उसने भगवान विष्णु की पूजा-अर्चना करनी नहीं छोड़ी। उसे ईश्वर पर बहुत विश्वास था. वह जानता था कि ईश्वर तो सर्वव्यापी है, कण-कण में है, सर्वशक्तिवान हैं। वह तो बस अनन्य भाव से उनकी भक्ति में लगा रहता था। फलस्वरूप हिरण्यकश्यप अपने बेटे का भी शत्रु बन गया। उसने प्रहलाद को बहुत यातनाएं दीं। अनेक बार मारने का प्रयत्न किया किंतु हर बार भगवान ने उसे बचा लिया। अभी तक पिता प्रहलाद को सारे कष्ट दूसरों के द्वारा दिलवाता था। जब देखा कि उसका बाल भी बांका नहीं होता तो स्वयं अपने बेटे को मारने के लिए तत्पर हो गया।

उसने प्रहलाद को घसीट कर पटक दिया और बोला, ”मेरे जैसे महाप्रतापी दानवराज के होते हुए तू विष्णु की पूजा करता है, अब देखता हूँ कि वह तुझे कैसे बचाता है? प्रहलाद ने कहा कि, ”पिताजी! मेरे प्रभु तो बस भगवान विष्णु हैं जो सर्वव्यापी और

सर्वशक्तिवान हैं। उन्होंने पहले भी मेरी रक्षा की, आगे भी करेंगे।”

यह बात सुनकर हिरण्यकश्यप और भी आग-बबूला हो उठा, बोला, ”तो बता! तेरा सर्वव्यापी भगवान इस खम्भे में है या नहीं?” उसने एक खम्भे की ओर इशारा किया। उस पर जोर से एक लात मारी।

खम्भा गिर पड़ा। तेज ध्वनि के साथ भगवान विष्णु बड़े ही आश्चर्यजनक रूप में प्रकट हुए। उनका मुख सिंह का था और धड़ मनुष्य के जैसा। इसीलिए उन्हें नरसिंह अवतार

कहा गया। अत्यंत क्रोधित होते हुए वे हिरण्यकश्यप को उठाकर कमरे की देहली पर ले गए, अपनी जंघाओं पर उसे पटक कर बड़े-बड़े पैने नाखूनों से उस अत्याचारी का पेट फाड़ डाला। हिरण्यकश्यप मर गया।

भगवान ने अपने दिए हुए वरदान का मान रखते हुए उस अत्याचारी का अंत कर दिया। वह तो सर्वशक्तिवान है, कुछ भी कर सकते हैं। सर्वत्र व्याप्त हैं, खम्भे से भी प्रकट हो गए। उस दुष्ट पिता से अपने अनन्य भक्त प्रहलाद की रक्षा की।

बाद में वर्षों प्रहलाद ने राजपाट सम्हाला। अपनी प्रजा को सुखी किया और शरीर छोड़ने पर ईश्वर को ही प्राप्त हुए।

विशेष

नवधा भक्ति

प्रत्येक भक्त का अपना ही निराला ढंग होता है भगवान को प्रसन्न करने का। भक्ति किसी भी प्रकार से की जाए पर शुद्ध हृदय व निष्काम भाव से की जाए। भक्ति के विभिन्न तरीकों को देखते हुए भक्ति को नौ प्रकार की श्रेणियों में रखा गया है और उन सबका संयुक्त नाम है - नवधा भक्ति। भक्ति के विभिन्न प्रकारों को निम्न नाम दिए गए हैं :-

1. श्रवण भक्ति - ईश्वर की महिमा का बार-बार श्रवण करने से उच्च कोटि की भक्ति प्राप्त होती है। किसी कारणवश महाराज परीक्षित को श्रृंगी ऋषि ने श्राप दे दिया कि आज से ठीक सातवें दिन परीक्षित की मृत्यु हो जाएगी, तो वे बहुत चिंतित हुए, उन्होंने शुकदेव आदि ऋषि-मुनियों से प्रार्थना की कि वे कुछ ऐसा उपाय करें जिससे श्राप आशीर्वाद में बदल जाए तथा सात दिन बिना किसी चिंता के कट जाएँ। तब शुकदेव मुनि ने उनको लगातार सात दिन रात ईश्वर, उनके अवतार तथा अवतारों की महिमा

का गुणगान किया। परीक्षित सुनते-सुनते इतने आनंद विभोर हो गए कि अपनी मृत्यु का उन्हें आभास तक न रहा।

2. कीर्तनम् - शुकदेव ने ईश्वर के गुणगान में रत रहकर ब्रह्म से एक्य स्थापित किया था। उन्होंने लोगों को शिक्षा दी कि निरंतर कीर्तन-भजन के द्वारा भी ईश्वर की प्राप्ति की जा सकती है। नारदजी, चैतन्य महाप्रभु, संत तुकाराम की भक्ति ऐसी ही थी।

3. नाम स्मरण - प्रहलाद सदा भगवान विष्णु का नाम स्मरण करता रहता था। उसके पिता हिरण्यकश्यप जब उसे यातना देते तो वह 'नमो नारायण कहते हुए यातना सह जाता था। उसे किसी भी प्रकार का कष्ट अनुभव नहीं होता था उसे ज्ञान हो गया था पंचतत्वों से बनी यह देह नश्वर है किंतु इसका अंतरवासी परमात्मा शाश्वत-सनातन है। इसीलिए वह देह की चिंता नहीं करता था और भगवान को याद करता रहता था। इसलिए परमेश्वर भी सदा उसकी रक्षा करते थे।

4. पाद सेवनम् - सभी भक्तों को भगवान के चरण-कमलों की सेवा करने का अवसर नहीं मिलता। कोई-कोई ही ऐसा सौभाग्य पाता है। लक्ष्मीजी सदा भगवान नारायण के चरणों को दबाती रहती थीं वे जानती थीं कि ये चरण इतने पवित्र हैं जिनका प्रक्षालन स्वयं ब्रह्माजी ने किया था। इन्हीं चरणों के द्वारा भगवान ने सारी सृष्टि केवल तीन कदम में नाप दी थी।

5. अर्चनम् - महाराज पृथु हर समय हर स्थिति में हरि की पूजा करते थे। वे संसार की हर वस्तु में भगवान के दर्शन करते थे, उन्होंने अपने विचार, वाणी और सारे कर्म भगवान को अर्पित कर दिए थे।

6. वंदनम् - अक्रूर ने अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँचों कर्मेन्द्रियों के द्वारा किए जाने वाले कार्य भगवान श्रीकृष्ण को अर्पित कर दिए थे वह सदा उन्हीं की आराधना में लगे रहते थे।

7. दास्यम् - हनुमानजी इस भक्ति का सर्वोच्च उदाहरण हैं। श्रीराम के नाम पर सदा चित्त लगाए रखकर सदा उन्हीं की सेवा में लगे रहना ही उनके जीवन का उद्देश्य था।

8. सांख्यम् - अर्जुन और श्रीकृष्ण सदा सखाभाव से साथ-साथ रहा करते थे। कठिन परिस्थितियों में भी अर्जुन का विश्वास उनसे नहीं हटा था। वह सदा उन्हीं पर निर्भर रहते थे। वह श्रीकृष्ण को जीवन का सारथी मानते थे तो श्रीकृष्ण उसे पार्थसारथी कहते थे।

9. आत्मनिवेदनम् - महाराज बलि ऐसे ही भक्त थे। उन्होंने अपना सर्वस्व ईश्वर को सौंप दिया था। श्री राधा की भक्ति भी ऐसी ही थी।

सारांश यह कि शुद्ध भक्तिभाव से युक्त मनुष्य कभी भी सांसारिक वस्तुओं की ओर आकर्षित नहीं होता। वह ईश्वरीय प्रेम से भरकर अपने सर्वोच्च लक्ष्य को पा लेता है।

क्षणभंगुर भौतिक सुखों से मन हटाकर निःस्वार्थ ईश्वरीय प्रेम से युक्त होकर सबमें ईश्वर के दर्शन करना चाहिए और सबकी सेवा करनी चाहिए तभी जीवन सार्थक होता है। स्वार्थहीनता ही ईश्वरीय प्रेम है।

भारत की महिमा

"प्राचीन काल में भारत वर्ष अपने आध्यात्मिक आदर्शों के कारण संसार के लिए प्रकाश स्तम्भ था। यह पवित्र भूमि त्याग, योग और कर्म की भूमि है। आज की शिक्षा इसे

भोग बनाने प्रयत्न करती है। परिणामस्वरूप शिक्षा संस्थाओं में सभी प्रकार के रोग विद्यमान हैं।”

2. श्लोक -

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।

मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। 12-14।।

शब्दार्थ -

संतुष्ट	-	संतोषी
सततं	-	निरंतर
योगी	-	आत्मसंयमी
यत्	-	जिसका
आत्मा	-	आत्मशक्ति
दृढनिश्चय	-	दृढ़विश्वास
मयि	-	मुझे
अर्पित	-	समर्पित
मनः	-	मन
बुद्धिः	-	बुद्धि
यः	-	जिसने (मनोबुद्धिर्यो =मन+बुद्धि यः)
मद्भक्त	-	मेरा भक्त
सः	-	वह
मे	-	मुझे
प्रिय	-	प्रिय है

संदर्भ - यह बारहवें अध्याय का चौदहवाँ श्लोक है। इस अध्याय को भक्तियोग का नाम दिया गया है। भक्तियोग को ईश्वर की कृपा प्राप्त करने का सबसे सरल और सर्वोत्तम साधन बताया है। इस अध्याय में सच्चे भक्त के लक्षण बताए हैं, जो अनन्य भक्ति में लगा रहता है, उसके व्यक्तित्व में दैविक गुणों का समावेश हो जाता है।

प्रसंग - पूर्व के अध्यायों में वर्णित है कि भगवान श्रीकृष्ण ने रणभूमि में ही अर्जुन को परम ज्ञान प्रदान करते हुए पहले अपने विष्णु स्वरूप के दर्शन कराए फिर अपने विराट स्वरूप के दर्शन कराए। भगवान के विराट स्वरूप को देखकर अर्जुन जहाँ हर्षित हुआ, आश्चर्यचकित हुआ, वहीं वह अत्यंत भयभीत भी हो गया। इसलिए उसने प्रार्थना की कि "यदि मुझसे कोई अपराध हुआ हो तो मुझे क्षमा करें। मुझ पर प्रसन्न हों। मेरा मन भय से बहुत व्याकुल हो रहा हैं। आप तो अपने उसी चतुर्भुज विष्णु स्वरूप को ही मुझे दिखलाइए। आप प्रसन्न हो जाइए।"

इस पर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि, "मेरा यह परम तेजोमय सीमारहित विराटस्वरूप आज तक किसी ने पहले कभी नहीं देखा था। मेरा यह स्वरूप ना तो वेदों के ज्ञान से, ना यज्ञ व दान से, ना ही तप आदि क्रियाओं से देखा जा सकता है। तुम इस योग्य हो इसलिए तुम्हें दिखाया। तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिए। अच्छा, अब फिर से प्रेमपूर्वक मेरे चतुर्भुज रूप को देखो।

ऐसा कहकर भगवान फिर से विष्णु स्वरूप में आ गए। कुछ समय बाद फिर शांत व सौम्य मनुष्य के रूप में आकर अर्जुन को धीरज बंधाया। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि - "हे परंतप अर्जुन! मेरे इस चतुर्भुज रूप के दर्शन तो देवताओं को भी दुर्लभ हैं किंतु तुममें अनन्य भक्ति भाव है, इसलिए तुम देख सकने में समर्थ हो सके। जो आसक्ति रहित होते हैं, जिनके सारे कर्म मेरे लिए हुआ करते हैं। जो मेरा परायण करते हुए अनन्य भक्तिभाव से मेरे इस सगुण स्वरूप का चिंतन करते रहते हैं। मुझे ही भजते हैं वे भक्त मुझे बहुत प्रिय हैं। उन्हें मैं संसार सागर से पार लगाता हूँ।

”संतुष्टः योगी ..... सः मे प्रियः।”

इस श्लोक में भगवान ने अपने प्रियभक्तों के कुछ लक्षण बताए हैं।

श्लोक का अर्थ - जो हर स्थिति में संतुष्ट रहता है। समत्व बुद्धि वाला व आत्मसंयमी है जिसका आत्मा में दृढविश्वास है। जिसने अपने मन व बुद्धि को मुझे ही समर्पित कर दिया है। (मुझ में ही स्थिर कर दिया है) वह भक्त मुझे प्रिय है।

व्याख्या - श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय सांख्ययोग में आत्मसंयमी योगी मनुष्य के लक्षण बताए हैं। प्रत्येक मनुष्य शांति व आनंद की कामना करता है पर यह सब केवल ईश्वर की कृपा से प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए इन्द्रिय विषयों से मन को हटाकर ईश्वर में मन व बुद्धि को स्थिर करना या एकाग्र करना बहुत आवश्यक है। जब तक सांसारिक विषय मन को प्रभावित करते रहते हैं, इच्छाएँ बढ़ती जाती हैं। इच्छाओं के त्याग से ही चित्त में स्थिरता व शांति व्याप्त होती है। बुद्धिमान मनुष्य जैसे ही सांसारिकता का प्रभाव अपने ऊपर देखता है तुरंत मन को ईश्वर चिंतन की ओर मोड़ देता है। धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा वह आत्मसंयमी बन जाता है।

ऐसे योगी के कार्य यद्यपि ऊपर से देखने में सांसारिक लगते हैं किंतु उसकी स्वयं की सांसारिक विषयों में आसक्ति नहीं होती। उनका भौतिक क्रिया-कलाप केवल वहीं तक सीमित रहता है, जितने में जीवन-निर्वाह हो सके।

ऐसा मनुष्य आत्मा व परमात्मा के ज्ञान को पा लेता है। उसे आत्मशक्ति में दृढ़ विश्वास हो जाता है। वह अनुभव कर लेता है कि समस्त ब्रह्माण्ड में एक ही परमात्म तत्व समाया है। वही परमात्म तत्व समस्त प्राणियों में विद्यमान है इसलिए वह किसी से भी द्वेष अथवा ईर्ष्या नहीं रखता। प्रत्येक प्राणी में ईश्वर की अनुभूति करता हुआ प्रेमपूर्वक सबकी सेवा करता है। वह यह जानता है कि उसे ईश्वर ने यह परोपकार, सेवा व लोक

कल्याण के लिए दी है। स्वयं की कोई इच्छा न होने के कारण वह हर स्थिति में संतुष्ट रहता है। सुख, दुःख, लाभ-हानि किसी से भी वह विचलित नहीं होता। जो कुछ प्राप्त होता है उसे ईश्वर की कृपा मानकर स्वीकार करता है। ऐसे संतुष्ट व्यक्ति का हर कार्य केवल ईश्वर की प्रसव्रता के लिए होता है। मधुर व सत्यवाणी बोलता है। सदविचार रखता है। सत्कर्म करता है. निष्काम कर्म करता है। ऐसे भक्त का उत्तरदायित्व भगवान अपने ऊपर ले लेते हैं और उस पर अपार करुणादृष्टि रखते हैं, कृपा बरसाते हैं। सदा उसकी रक्षा करते हैं। कहानी

राजा अम्बरीश भगवान के अनन्य भक्त थे। उन्होंने अपना मन भगवान के चरण कमलों में स्थिर कर दिया था। राजा होते हुए भी वे अपने हाथों से मंदिर की सफाई करते। पूजा अर्चना का सामान स्वयं जुटाते। अपनी वाणी से केवल भगवान की चर्चा करते। कानों को सदा भगवान की दिव्य लीलाओं का वर्णन सुनने में लगाए रखते। आँखें सदा भगवान का दर्शन पाने को तरसतीं। अपनी नाक से भगवान को भेंट किए गए फूलों की सुगंध सूँघा करते। रसास्वादन के लिए केवल तुलसी दल का स्वाद लेते। उनके पैर सदा भगवान के मंदिर की ओर उठा करते। अपनी सारी इच्छाओं को उन्होंने भगवान की इच्छा में मिला दिया था। सदा लोक कल्याण में जुटे रहते। इस प्रकार वे वही करते, जिसकी आशा भगवान अपने भक्त से करते हैं।

एक दिन दुर्वासा मुनि अम्बरीश के दरबार में उनकी भक्ति की परीक्षा लेने आए। इस दिन राजा अम्बरीश का व्रत पूर्ण हो रहा था। उन्हें पूजा के पश्चात प्रसाद ग्रहण करना था, किंतु दुर्वासा मुनि आए हुए थे, उनका अतिथि सत्कार भी करना था। दुर्वासाजी बोले, ”पहले मैं नदी में स्नान करने जाऊँगा, उसके बाद ही कुछ ग्रहण करूँगा।” नदी पर उन्होंने जानबूझ कर देर कर दी। इधर मुनि को बिना जलपान कराए राजा कैसे कुछ खा सकते थे? लेकिन उनका व्रत तोड़ने का समय हो गया था। अतः केवल एक तुलसीदल खाकर पानी पी लिया। जब दुर्वासा मुनि नदी से वापस आए और उन्हें ज्ञान हुआ कि

राजा ने तुलसी के पत्ते खाए हैं तो बहुत कुपित हुए कि मुझसे पहले इन्होंने कुछ भी क्यों खाया? दुर्वासा मुनि ने इतनी तपस्या के बाद भी अपने क्रोध पर विजय नहीं पाई थी। वे बात-बात पर क्रोधित हो जाया करते थे। अम्बरीश के नाश के लिए भी वे श्राप देने लगे किंतु जैसे ही अपने कमण्डल से हाथ में जल लेकर श्राप देने लगे कि भगवान विष्णु का सुदर्शन चक्र प्रकट होकर दुर्वासा मुनि की ओर बढ़ने लगा। चक्र से भयभीत होकर दुर्वासा मुनि भागने लगे। पहाड़ी, नदी, झील, घाटी जहाँ पर पैर उठे भाग चले। सुदर्शन चक्र पीछा करता रहा। स्वर्ग में शरण लेनी चाही, नहीं मिली, क्योंकि भगवान के भक्त के शत्रु को कोई शरण नहीं देता। अंत में वे वैकुण्ठ पहुँच कर भगवान विष्णु के चरणों में गिर पड़े। पश्चाताप करने लगे। भगवान ने उन्हें क्षमा तो कर दिया फिर भी यह घोषणा की कि वे हमेशा भक्त का साथ देते हैं। जो उनकी शरण में रहते हैं वे सदा उनको संरक्षण देते हैं, क्योंकि भक्त उनके लिए संसार की सब वस्तुओं का त्याग कर देता है।

दुर्वासा मुनि को अपने तप का बहुत अहंकार था। किंतु अम्बरीश की भक्ति के आगे वह अहंकार चूर-चूर हो गया। वे अम्बरीश की भक्ति के आगे श्रद्धा से नत हो गए।

अभिभावकों का कर्तव्य

"छात्रों के उचित आचरण के लिए यह आवश्यक है कि अभिभावक उनके लिए सही उदाहरण प्रस्तुत करें। दुर्भाग्य की बात है कि यधपि बहुत से अभिभावक शिक्षित, सम्पन्न और भारतीय संस्कृति में रुचि रखने वाले हैं, किंतु उनका व्यावहारिक आचरण आदर्श नहीं है। यही कारण है कि अधिकांश छात्र भटक जाते हैं। सभी माता-पिता चाहते हैं कि उनके बच्चे अच्छी शिक्षा पाएँ, अच्छी नौकरियाँ पाएँ और उच्च आय अर्जित करें। परंतु बहुत कम माता पिता यह कामना करते हैं कि उनके बच्चे आदर्श नागरिक बनें। कई बार जब छात्र आध्यात्मिक रुचि विकसित करते हैं तो माता-पिता उन्हें निरुत्साहित करने का प्रयास करते हैं। ऐसे भी माता-पिता हैं जो हिरण्यकशिपु की भांति अपने बच्चों को कम उम्र में आध्यात्मिक साधना करने पर डाँटते हैं। इतना ही नहीं, कुछ माता-पिता

अपने बच्चों का गलत व्यवहार देखकर भी दूसरों को सामने अपनी संतान की प्रशंसा करते हैं। वे उन्हें सुधारने और सही मार्ग पर लाने का कोई प्रयास नहीं करते। माता-पिता की इस प्रवृत्ति के कारण छात्र गलत रास्ते पर जा रहे हैं और धृतराष्ट्र की संतान कौरवों की तरह बिगड़ रहे हैं। इसमें छात्रों का दोष नहीं है। शिक्षा संस्थाओं में गैर-अनुशासन के रूप में प्रकय छात्रों के दुर्व्यवहार के लिए माता-पिता उत्तरदायी हैं।"

3. श्लोक -

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वेवम् आत्मानं मत्परायणः।।9-34।।

शब्दार्थ -

मन्मना - (मन+मना) मुझ पर मन स्थिर करने वाले

भव - हो

मद्भक्तः - (मत् + भक्त) मेरे भक्त

मद्याजी - (मत्+याजी) मेरे उपासक

माम - मुझे

नमस्कुरु - (नमः + कुरु) प्रणाम करो

मामेवैष्यसि - (माम + एवम् + आत्मानं) अपनी आत्मा को इस प्रकार मुझ में ही लीन

करके

युक्त्वा - लीन करके, एक्य स्थापित करके

मत्परायणः - (मत् + परायणः) मेरी भक्ति में लगो

संदर्भ - उपर्युक्त श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता के नौवें अध्याय से लिया गया है। यह चौंतीसवाँ श्लोक है। इस नौवे अध्याय को राजविद्या राजगुह्ययोग कहा गया है। शुद्ध भक्ति के द्वारा निर्गुण निराकार परमेश्वर के सगुण साकार स्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है। इस अध्याय में भक्ति का बड़ा ही सरल व सुगम उपाय बताया है।

प्रसंग - पंचतत्वों से बनी मनुष्य की स्थूल दृष्टि दृश्यमान संसार से अलग हटकर कुछ भी देख नहीं सकती। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के दिव्य दृष्टि प्रदान करके उसे अपने विराट विश्व रूप के दर्शन कराए फिर उसे परम ज्ञान प्रदान किया। अर्जुन इस ज्ञान को पाने के योग्य था क्योंकि वह दोष व ईर्ष्या से रहित था। निर्मल व पवित्र हृदय वाला था।

इस अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि "मैं तुम्हें उस परम गुह्य अर्थात् परम गोपनीय ज्ञान को फिर से समझाऊँगा ताकि तुम दुःखों से छुटकारा पा सको।" अनन्य शुद्ध भक्ति का ज्ञान ही परम गोपनीय ज्ञान है। यह वह विशुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान है जिसको पाने के बाद मनुष्य को सांसारिक क्लेश सताते नहीं हैं।

जिसको यह ज्ञान प्राप्त होता है वह आत्म साक्षात्कार की ओर अवश्य प्रगति करता है किंतु इसके लिए जरूरी होता है पहले अपने मन से मलिनता को दूर करना। स्वच्छ व पवित्र विचार रखना। केवल आत्मा-परमात्मा को जान लेना मात्र पर्याप्त नहीं है उसकी अनुभूति करना आवश्यक है।

श्रीकृष्ण अर्जुन को उच्च से उच्चतर स्थिति में ले जाना चाहते हैं, इसलिए उसे यह - ज्ञान प्रदान करते हैं, वे कहते हैं कि इससे पहले उन्होंने यह ज्ञान किसी को नहीं दिया था। भगवान कहते हैं कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश ये पाँचों तत्व मेरा ही स्वरूप हैं। मेरे ही संकल्प से यह सारा जगत प्रकट हुआ है। यह जगत तथा इसमें रहने वाले सारे प्राणी मुझमें ही स्थित हैं।

कल्प के आरम्भ में मैं इन सब की रचना करता हूँ फिर कल्प के अंत में मैं ही इन सबको अपने में लीन कर लेता हूँ। प्रकृति के तीनों गुणों (सत्व, रजस, तमस) के सम्पर्क में आने पर जीव अनेक इच्छाओं से प्रेरित होकर भाँति-भाँति के कार्य करते रहते हैं। उनके कर्मों के अनुसार मैं उनके अगले जन्म का निर्धारण करता हूँ। उनके कर्मों के अनुसार ही अगले कत्प में उनकी रचना करता हूँ। किंतु कर्मफल मुझे नहीं बाँधते क्योंकि मैं आसक्ति रहित हूँ। केवल साक्षी हूँ।

मैं निर्गुण निराकार रूप में सब जगह व्याप्त हूँ। सबका भरण-पोषण करने वाला, सबका स्वामी, शुभ-अशुभ को देखने वाला, सबका हित चाहने वाला, शरण लेने के योग्य हूँ। मैं उत्पत्ति व प्रलय का कारण हूँ। स्थिति का आधार भी मैं हूँ। इस सम्पूर्ण जगत को धारण करने वाला पिता, माता, पितामह सब में हूँ। पवित्र ओंकार मैं हूँ। सब कुछ मैं ही हूँ। मैं इस संसार के उद्धार के लिए योगमाया के द्वारा मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ किंतु अज्ञानी लोग मुझे केवल मनुष्य ही समझते हैं। ये अज्ञानी लोग आसुरी गुणों से युक्त होते हैं।

जो महात्मा हैं और दैवी गुणों से युक्त हैं वे मुझे भलीभाँति समझ कर अनन्य भाव से मुझे ही भजते हैं। ऐसे सच्चे भक्तों की रक्षा व कुशलमंगल का भार मैं उठाता हूँ। मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। यहाँ तक कि कोई बहुत दुराचारी व्यक्ति भी भक्तिभाव से मुझे भजता है तो उसका शीघ्र ही हृदय परिवर्तन हो जाता है और वह धर्मात्मा बन जाता है।

नोट - (महर्षि वाल्मीकि इसका उदाहरण हैं) धर्मात्मा व्यक्ति शीघ्र ही शांति प्राप्त करता है।

श्लोक का अर्थ - भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को निर्देश देते हैं कि "तुम अपने मन को मुझमें स्थिर कर दो। मेरे भक्त बन जाओ। अर्थात् मेरा चिंतन-मनन करो। मेरे ही उपासक बनो। समर्पित भाव से मेरी पूजा करो। मुझे प्रणाम करो। इस प्रकार मुझसे एकात्म बाध करते हुए तुम मुझे ही प्राप्त होगे।

व्याख्या - मानवात्व से माधवत्व को प्राप्त करने के लिए अथवा ईश्वर को प्राप्त करने के लिए अपने अंदर दिव्यत्व को जगाना पड़ता है। दिव्य चिंतन, दिव्य कर्म व दिव्य व्यवहार अपनाना पड़ता है। दैवी गुणों को आत्मसात करना पड़ता है। जो दैवी गुणों से युक्त होते हैं. वे सरल पवित्र हृदय वाले होते हैं उनका ईश्वर में विश्वास, श्रद्धा व प्रेम होता है। अपने स्वधर्म के पालन के लिए अनेक कष्टों को भी सह लेते हैं पर स्वयं मन, वचन अथवा कर्म से किसी को कष्ट नहीं देते। अपना अपकार या अनिष्ट करने वाले पर भी कभी क्रोधित नहीं होते। किसी की निंदा नहीं करते। सब प्राणियों के प्रति दया का भाव रखते हैं। इनमें चंचलता का अभाव होता है। व्यर्थ की चेष्टाएँ नहीं करते। शास्त्रों के विरुद्ध कार्य करने में लज्जा का अनुभव करते हैं। सद्गुणों से सम्पन्न होते हैं। तेज, क्षमा, धृति अर्थात् धैर्य इनका प्रधान गुण है। ये बड़े त्यागी होते हैं। इस प्रकार दिव्यत्व को प्राप्त करने के लिए भगवान ने बड़ा सरल सा उपाय बताया कि. "अपना मन मुझमें स्थिर कर

दो। निष्काम भक्ति करो। मन, वचन, कर्म सब मुझे अर्पण कर दो तो मुझे प्राप्त कर लोगे।"

"यद भावम् तद् भवति" जैसे विचार होते हैं मनुष्य वैसा ही बन जाता है। जब ईश्वर के गुणों का उनकी लीलाओं का चिंतन किया जाता है, कीर्तन किया जाता है तो धीरे-धीरे ईश्वरीय गुण मनुष्य के अंदर समाने लगते हैं। मनुष्य का देहात्मभाव समाप्त हो जाता है, वह आत्मभाव में रहने लगता है। आत्मभाव में स्थित रहने से सांसारिक दुःख या क्लेश सताते नहीं हैं। ईश्वर की शरण में रहने से उन्हें ही समर्पित रहने से, जीवन सुख, संतुष्टि व आनंद के साथ व्यतीत किया जा सकता है।

सब प्राणियों में ईश्वरत्व की अनुभूति करते हुए सबकी सेवा सहायता करना, लोक कल्याण में जुटना, सब पर दया भाव रखना, आत्म साक्षात्कार में सहायक होता है। आत्म साक्षात्कार अर्थात् आत्म तत्व को भलीभाँति पहचानना ही ईश्वर प्राप्ति है, यही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। सबको चाहिए कि वे अपने उत्तरदायित्वों को समझें। स्वधर्म को पहचाने, अपने कर्तव्य पूरे करें। कर्तव्यों को पूजा समझ कर करें, ईश्वर को अर्पित कर दें तो ईश्वर प्रसन्न होते हैं और वे भक्त पर कृपा करते हैं। उसे संसार सागर से पार लगाते हैं, अपने धाम में ले जाते हैं। वहाँ से कोई वापस संसार में नहीं आता।

कहानी

एक संत हुए हैं स्वामी रामदास। ये बड़े ही महान योगी संत थे। प्रारम्भ में एक अच्छे परिवार में जन्म लेने के कारण सांसारिक ही थे किंतु युवावस्था में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वे बहुत बेचैन रहने लगे कि कैसे इन दुःखों से छुटकारा मिले और तभी ईश्वर ने इनकी पुकार सुन ली। भगवान की वाणी हुई कि, "मत घबराओ! मुझ पर विश्वास रखो। तुम अवश्य निश्चिंत हो जाओगे। ईश्वरवाणी सुनकर

रामदासजी के हृदय की वेदना व छटपटाहट ऐसे शांत हो गई जैसे वर्षा होने पर तपती हुई धरती की प्यास बुझ जाती है।

इनके पिता ने इन्हें राम मंत्र दिया, "श्री राम जय राम जय जय राम।" उनसे कहा कि इससे उन्हें शांति मिलेगी। वे जप करने लगे। भजन गाने लगे। धीरे-धीरे भगवान श्रीराम में उनका विश्वास बढ़ता गया। अपने नित्य के कार्य को वे राम-भजन करते हुए सम्पन्न करते। अब उन्हें आर्थिक चिंता भी नहीं सताती। भगवान ने भी संघर्षों और आर्थिक परेशानी में उनकी मदद की। धीरे-धीरे उनके मन से सांसारिक इच्छाओं का भाव हटने लगा और वैराग्य आने लगा।

"ये वस्तु मेरी है।" या "ये सम्बन्धी मेरे हैं।" ऐसी भावना दूर होने लगी। मन, विचार, चित्त सब राम में ही लीन रहने लगे। देहात्म भाव छूट गया, आत्मभाव समा गया। शक्ति और साहस जुटाने के लिए उन्होंने कठोर साधना प्रारम्भ की।

एक दिन उनके मन में विचार जागा कि "हे रामा जब तेरा सेवक देखता है कि तू इतना शक्तिशाली है। भक्तवत्सल है तो क्यों नहीं तेरी ही शरण में रहता है? क्यों मनुष्य इस भ्रम में कैसा रहता है कि "यह हूँ।" "यह मेरा है।" "मैं यह करता हूँ, वह करता हूँ। मैं

"हे प्रभो! इस संसार के रक्षक तो तुम्हीं हो। सब कुछ तेरा ही है। तुम ही सब कार्यों को करने वाले हो।"

इस प्रकार की भावना का उदय होते ही वे पूर्ण रूप से ईश्वर के प्रति समर्पित हो गए। सारे प्राणियों में वे ईश्वर दर्शन करते। पूरे संसार के प्रति उनका प्रेम जाग गया और जुट गएट लोक कल्याण में। गाँव-गाँव भ्रमण के लिए निकलते लोगों के कष्ट दूर करते। लोगों को अच्छी शिक्षाएँ देते। अपना सम्पूर्ण जीवन दूसरों की भलाई के लिए समर्पित कर दिया। उनको ज्ञान हो गया ता कि सर्वत्र एक ही परमात्मा व्याप्त है।

अन्य कहानी

एक समय सूर्यवंश में एक राजा थे। उनका नाम था खट्वांग। वे बहुत बलवान, वीर, कुशल शासक थे। इसके साथ ही आदर्श चरित्रवान, व्यवहार कुशल, नीतिवान, न्यायप्रिय व दानी भी थे।

उनकी बराबरी का उस समय कोई नहीं था। एक बार दानवों ने देवताओं पर आक्रमण कर दिया। अकस्मात् भयंकर आक्रमण से देवता विचलित हो गए। वे देवलोक से पृथ्वीलोक पर आए और राजा खट्वांग से सहायता माँगी। राजा सहर्ष तैयार हो गए। उन्होंने अपने रणकौशल से दानवों के छक्के छुड़ा दिए। दानव भाग खड़े हुए। देवता खट्वांग से बहुत प्रसन्न हुए और बोले।

“हे राजन्! आपके समान कोई नहीं है जो आपकी तुलना में टिक सके। इस घोर संग्राम में हमारी विजय का पूरा श्रेय आपको है। हम आपसे बहुत प्रसन्न हैं। आपकी मनोवांछित कामना पूरी करना चाहते हैं। आपकी जो इच्छा हो, हमें बताएँ।”

राजा ने उत्तर दिया, ”हे देवगण। मनुष्य आप लोगों को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ आदि कर्म किया करते हैं। जहाँ तक मेरे सम्बन्ध हैं। यह युद्ध भी मेरे लिए एक यज्ञ है। आप स मुझ से प्रसन्न हैं बस, और मुझे क्या चाहिए। आप अपना अनुग्रह बरसा रहे हैं. यही मेरे लिए वरदान है। किंतु देवताओं ने बहुत जोर दिया कि राजा कुछ तो माँगे।

जब राजा को लगा कि बिना वरदान माँगे छुटकारा नहीं है तो राजा ने कहा कि, ”हे देवताओं। पहले आप यह बताने की कृपा करें कि मैं कितनी अवधि तक जीवित रहूँगा । तभी यह निर्णय कर पाऊँगा कि क्या माँगू।”

देवताओं के राजा इन्द्र ने कहा, ”हे राजन्! आप अपना जीवनकाल समाप्त हुआ ही समझें। बस एक मुहूर्त तक ही आप जीवित रह सकते हैं।”

इतना सुनते ही खट्वांग ने कहा, ”अब मुझे किसी वस्तु की इच्छा नहीं है। इस लोक के और परलोक के सारे सुख महत्वहीन हैं, इनसे बचना चाहिए। मैं संसार मैं फँसना नहीं चाहता। आप तो कृपा करके ऐसा वरदान दें जिससे कि भगवान के समक्ष उपस्थित हो सकं। वहाँ से फिर ना लौट। क्योंकि वही जीवन का चरम लक्ष्य है।”

इतना कहकर राजा नेत्र बंद करके भगवान के ध्यान में लीन हो गए और एक मुहूर्त बीतते ही श्रीहरि के चरणों में उपस्थित हो गए।

कहानी का निष्कर्ष यह है कि जब राजा ने क्षणमात्र में ही संसार से अपना मन विरक्त कर लिया और इस प्रकार भगवद्धाम में पहुँच गए, जहाँ किसी भी प्रकार का भय नहीं पहुँच सकता।

फिर मनुष्य के पास तो उसके जीवन की अवधि होती है। मनुष्य को चाहिए कि वह सांसारिकता में लिप्त न हो। अंतरदृष्टि प्राप्त करे। ईश्वर से एकात्म स्थापित करते हुए अपने कर्तव्य करे। स्वधर्म का पालन करे। तभी मनुष्य जन्म सार्थक हो सकता है। एकमात्र लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है।

4. श्लोक -

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।18-66।।

शब्दार्थ -

सर्व	-	सब
धर्मान्	-	धर्मों या कर्तव्यों को
परित्यज्य	-	त्यागकर
मामेकं	-	(माम+एक) एकमात्र मेरी
शरणं	-	शरण में
व्रज	-	आ जाओ
अहं	-	मैं
त्वाम्	-	तुम्हें
सर्वपापेभ्यो	-	सब पापों से
मोक्षयिष्यामि	-	मुक्त कर दूंगा
मा	-	नहीं
शुचः	-	चिंता करो

संदर्भ - यह मोक्षः संन्यास योग नामक अठारहवे अध्याय का छयासठवाँ श्लोक है। इस अध्याय में संन्यास और त्याग के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया है। तीनों गुण सत्व, रजस और तमस् के अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, धृति, बुद्धि और सुख के अलग-अलग प्रकार बताए हैं। वर्ण धर्म का परिचय कराया है। श्री गीताजी का माहात्म्य कहा गया है।

प्रसंग - श्री मद्भगवद्गीता के सभी अध्यायों के सारे उपदेशों का सारांश अठारहवें अध्याय में वर्णित है। पहले के अध्यायों में भगवान श्रीकृष्ण ने जो उपदेश दिए उन्हीं के संक्षेप में फिर से कहा है।

इस अध्याय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया कि, "हे महाबाहु! हे ऋषिकेश! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास व त्याग को पृथक-पृथक जानना चाहता हूँ।"

(अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण को ऋषिकेश इसलिए कहा क्योंकि वे समस्त इन्द्रियों के स्वामी हैं। उन्होंने केशी नामक अत्यंत दुर्जेय राक्षस का वध किया था अतः उन्हें अर्जुन ने केशिनिषूदन कह कर भी संबोधित किया है।)

अर्जुन के द्वारा इस प्रकार प्रश्न करने पर भगवान ने अपनी दिव्य वाणी द्वारा समझाया कि कर्मफल की आकांक्षा से किए गए कर्म का त्याग करना चाहिए, लेकिन जिन कर्मों से उच्च आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त होता है, उनका त्याग नहीं करना चाहिए। जो कार्य भौतिक संतुष्टि के लिए किए जाते हैं, उन्हें त्याग देना चाहिए लेकिन जिन कार्यों को करने से आध्यात्मिक उन्नति होती हो, उन्हें करना चाहिए।

सारे कर्म मानव समाज की उन्नति और कल्याण के लिए किए जाने चाहिए। यज्ञ, दान, तप आदि का परित्याग नहीं करना है बल्कि इन्हें सात्विक व निष्काम भाव से करना है। कर्तव्य समझ कर करना है। इस प्रकार से किए गए कर्म मनुष्य के मन को शुद्ध करते हैं व भगवद्भक्ति को पुष्ट बनाते हैं। जब फल की आसक्ति को त्याग दिया जाता है

तभी त्याग सात्विक कहलाता है। और ऐसा सात्विक त्याग करने वाला ही संन्यासी माना जाता है।

कर्तापन के भाव का त्याग भी करना चाहिए, किसी भी कार्य को करने के लिए पाँच घटक आवश्यक होते हैं - कर्ता, स्थान, साधन, क्रिया और भाग्य। जब ये पाँचों एक ही समय में एक साथ होते हैं तभी कार्य सम्पादित होता है, यदि इनमें से कोई एक नहीं है तो कार्य नहीं होगा।

परंतु होता यह है कि कार्य होने पर उस कार्य के सम्पादन का सारा श्रेय कार्य को करने वाला अपने ऊपर ले लेता है कि "यह कार्य मैंने किया। इसी कर्तापन के भाव से किए गए व फल की इच्छा से किए गए कर्म बंधन का कारण बनते हैं। इसलिए ईश्वर-इच्छा को समझते हुए कार्य करना चाहिए। प्रकृति द्वारा जो कर्त्तव्य कर्म प्राप्त हुए हैं, उन्हें पूरी निष्ठा से पूजा समझते हुए करना चाहिए।

श्लोक का अर्थ - भगवान श्रीकृष्ण-अर्जुन कहते हैं, "तुम धर्म-अधर्म का विचार त्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा। चिंता मत करो।"

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से बहुत प्रेम करते हैं, वे अर्जुन के घनिष्ठ मित्र हैं । अर्जुन सदैव श्रीकृष्ण के साथ साए की तरह रहे। वे किसी भी कार्य को मनमाने ढंग से नहीं करते थे। सदा श्रीकृष्ण की सलाह लेते थे। भगवान के वचनों में अर्जुन की पूरी निष्ठा थी। इसीलिए भगवान ने भी उन्हें निश्चिंत रहने को कहा और सब पापों से मुक्त करने का आश्वासन दिया। अर्जुन के मन में भाव था कि युद्ध में मेरे द्वारा जो लोग मारे जाएँगे उन्हें मारने का पापा मुझ पर होगा किंतु श्रीकृष्ण ने पहले ही स्पष्ट कर दिया कि तुम कर्तापन का भाव छोड़ दो। तुम तो केवल निमित्त मात्र हो। इन सबको मारने वाला तो मैं हूँ। ईश्वर इच्छा बिना कुछ नहीं होता।

उन्होंने सलाह दी कि तुम तो मेरी शरण में आ जाओ।

ईश्वर समस्त सृष्टि के व सब प्राणियों के स्वामी हैं। वे सर्वशक्तिमान हैं, सर्वसम्पत्तिवान हैं। बहुत दयालु हैं। भक्तों पर बहुत कृपा करते हैं। वे जो चाहें वह भक्तों को दे सकते हैं। सबके मित्र हैं, 'किसके लिए क्या उचित है', 'क्या नहीं इस बात पर विचार करते हुए जिसके लिए जो कल्याणकारी होता है, उसे वही देते हैं।

सांसारिकता में फँसा मनुष्य अनेक प्रकार की इच्छाएँ पाल लेता है। उसकी बुद्धि उन इच्छाओं को पूरा करने के लिए ताने-बाने बुनने लगती हैं. यह उचित नहीं है। भक्त को ईश्वर के आदेशानुसार कार्य करना चाहिए, यही सच्ची भक्ति है। भगवान ने कहा, "तुम मेरी शरण में आ जाओ।"

मनुष्य कभी भी स्वतंत्र नहीं होता, वह परमेश्वर के अधीन रहता है कर्म भले ही अपनी इच्छानुसार करे, किंतु फल उसे वही भोगना पड़ेगा, जो ईश्वर उसे उसके अतीत व वर्तमान के कर्मों के अनुसार देंगे। इसीलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह ईश्वर की शरण में रहे।

ईश्वर प्रत्येक के हृदय में स्थित है। अन्तरवासी परमेश्वर है। वे मनुष्य के अंतःकरण के रूप में आदेश-निर्देश देते हैं। इसलिए अपनी अंतरात्मा की आवाज सुननी चाहिए।

ईश्वर को सर्वस्व समझते हुए अनन्य भक्ति भाव से श्रद्धापूर्वक, प्रेमपूर्वक, निरंतर उनके नाम, गुण प्रभाव और स्वरूप का चिंतन करते रहना चाहिए।

अपने कर्तव्य कर्मों को निःस्वार्थ भाव से पूरे करना ही परमात्मा की शरण है। श्रीकृष्ण

ने कहा कि, ”तुम मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा, इसका अर्थ

यह हुआ कि शरणागति होने से ईश्वर अपने भक्त के रक्षक बन जाते हैं। उसके द्वारा पूर्व में किए गए पाप कर्मों के फल से भी उसको बचा लेते हैं, किंतु शर्त केवल इतनी है कि दोबारा उन पाप कर्मों को करना नहीं है।

इस श्लोक में भगवान ने यह भी कहा, ”मा शुचः।” ”चिंता मत करो।” अर्थात् शरण लेने में संकोच मत करो।

यदि मनुष्य ईश्वर पर विश्वास रखते हुए उसकी शरण में रहे। सत्याचरण करे। नैतिक आदर्शों को जीवन में उतारे। शास्त्र सम्मत कार्य करे वैदिक शिक्षाओं का अनुशीलन करे तो ईश्वर उसे हर कठिनाई से बचाएँगे। उसकी जीवन नैय्या पार लगा देंगे।

कहानी

त्रेतायुग में श्रीरामचन्द्रजी के समय में रत्नाकर नाम का एक भयंकर डाकू था। सभी उससे भयभीत थे। मनुष्य और पशु-पक्षी तो क्या, भयानक सिंह-व्याघ्र भी उससे घबराकर भाग जाते थे। जंगल में विचरण करते हुए न जाने कितने शेरों को उसने पछाड़ दिया था। पंछियों को मुट्ठी में मसल देता। मनुष्य को दोनों पैरों से चीर कर दो टुकड़े कर देता। हर राहगीर को लूट लेता। यदि भूले-भटके जंगल की राह कोई राहगीर निकल पड़ता तो दूसरा उस राहगीर को टोकता कि ”पथिक लौट जाओ। वहाँ जंगल में साक्षात मौत मुँह वाए खड़ी है।” और राही लौट जाते।

एक दिन की बात है। रत्नाकर जंगल में इसी उद्देश्य से घूम रहा था कि कोई राही निकले तो मेरा काम बने। तभी अचानक सामने का दृश्य देखकर चौक पड़ा। उसने देखा सामने एक वृक्ष के नीचे कोई मनुष्य जटाएँ बढ़ाए बैठा है।

रत्नाकर क्रोधित हो उठा। इसकी इतनी हिम्मत। यहाँ इतना निश्चिंत होकर बैठा है। अभी इसको जाकर बताता हूँ कि वो किसके इलाके में बैठा है। इसके लिए तो मेरे दोनों हाथ के पंजे ही काफी हैं।

जैसे ही वहाँ पहुँच कर रत्नाकर ने मुनि को मारने के लिए अपने दोनों हाथ बढ़ाए कि मुनि के मुख से आदेश निकला, "ठहरो।"

एक क्षण के लिए मानो सब ठहर गया। फिर मुनि ने स्नेह से भरकर कहा, "वत्सा यह हिंसाएँ, ये हत्याएँ तू किसके लिए कर रहा है। क्या शांतिपूर्वक वन में फल, कंदमूल खाकर नहीं रह सकता? अपने छोटे से पेट के लिए तूने सबको इतना भयभीत कर रखा है।" डाकू ने अट्टहास करते हुए कहा, "भयभीत? अरे जीवन का यही तो नियम है। एक दूसरे का भक्षण करना। मैं जिऊँगा तो दूसरा मरेगा ही।"

"मगर इतनी हिंसा किसके लिए?"

"अपने लिए और अपने परिवार के लिए।"

"तो जरा अपने परिवार वालों से पूछ कि तू ये जो पाप उनके लिए कर रहा है, उसका फल भोगते समय भी क्या वे तेरी साझेदारी करेंगे। तेरा फल बाँट लेंगे।"

मुनि के इस प्रश्न से डाकू रत्नाकर चौंक पड़ा. तुरंत सम्हल कर बोला, "क्यों नहीं। अवश्य करेंगे।"

मुनि ने कहा कि, "यह तो तू कह रहा है। जरा अपने परिवार से जाकर पूछ।"

"वह तो मैं पूछ लूंगा। पर तुम्हारी चालाकी नहीं चलेगी। मैं तुम्हें बाँध कर जाऊँगा, वरना तुम भाग जाओगे।" डाकू मुनि को बाँध कर घर दौड़ा, वहाँ पहुँच कर सबको इकट्ठा किया

। सभी आश्चर्य में पड़ गए प्रतिदिन कुछ न कुछ लाने वाला आज खाली हाथ कैसे लौट आया?"

रत्नाकर ने सबसे पूछा, "मैं जो कर्म करता हूँ, उसका फल में ही भुगतूँगा या तुम सब भी साथ दोगे।"

"जो कर्म करता है - उसका फल भी वही भोगता है।" उत्तर मिला।

"मैं तो तुम सबके लिए कर्म बाँध रहा हूँ, जब खाने पीने और आनंद में साथ हो तो कर्म फल भोगने में भी साथ देना पड़ेगा।"

"ऐसा होता नहीं है। भले ही तुम हमारे लिए कर्म करो, फल तो तुम्हें ही भोगना पड़ेगा।" सभी ने कहा।
अचानक जैसे रत्नाकर के मस्तिष्क में सैकड़ों बिजलियाँ कौंध गई हों। उसकी आत्मा जाग गई। वह दौड़ पड़ा मुनि के पास। आज उसने सत्य को जान लिया था। वह समझ चुका था कि मनुष्य जीवन बनाने वाला है, विनाश करने वाला नहीं।

उसने जाकर मुनि के बंधन खोल दिए। तब गिर पड़ा मुनि के चरणों में। पापकर्मों में फल से बचने का उपाय पूछने लगा। मुनि ने उसे "राम नाम" का मंत्र दिया। प्रभु की शरण लेने को कहा। बस रत्नाकर जुट गया घोर तपस्या में। राम-नाम जप करते वर्षों बीत गए। चींटियों ने अपनी बाम्बी बना ली रत्नाकर के ऊपर, पर उनकी तपस्या भंग नहीं हुई।

चींटियों की बाम्बी बन जाने के कारण ही बाद में इनका नाम वाल्मीकि पड़ा। चींटियों को ही वाल्मीकि कहते हैं। घनघोर तपस्या के कारण महर्षि वाल्मीकि कहलाए। इन्होंने प्रथम महाकाव्य रामायण की रचना की और आदि कवि कहलाए।

ईश्वर की शरण में जाने से उनके सारे पाप धुल चुके थे। आज लोग श्रद्धा के साथ उन्हें याद करते हैं।

5. श्लोक -

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो में भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्यु पहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।9-26।।

शब्दार्थ -

पत्रं - पत्तियाँ

पुष्पं	-	फूल
तोयं	-	जल
यो	-	जो
में	-	मेरे लिए
भक्त्या	-	भक्तिपूर्वक
प्रयच्छति	-	अर्पण करता है
तत्	-	वह (फल, फूल पत्ती, जल आदि)
अहं	-	मैं
भक्त्युपदहृतम्	-	(भक्त्या + उपहतम्) भक्ति से अर्पण किया हुआ
अश्नामि	-	खाता हूँ
प्रयतात्मनः	-	(प्रयत् + आत्मनः) शुद्ध हृदय से अर्पित किया हुआ।

संदर्भ - यह राजविद्या राजगुह्ययोग नामक नौवें अध्याय से लिया गया छब्बीसवों श्लोक है। इस अध्याय में भगवान के स्वरूप का वर्णन है। जगत की उत्पत्ति व लय का विषय है। भगवान ने आसुरी प्रकृति वालों को निंदा के योग्य ठहराया है तथा दैवी प्रकृतिवालों को श्रेष्ठतम बताया है। सकाम व निष्काम भक्ति के लिए फल बताए हैं। निष्काम भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है।

प्रसंग - भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जहाँ अपनी सर्वव्यापकता व सर्वशक्तिमत्ता का ज्ञान दिया, वहीं भक्तों की श्रेणी भी बताई। उन्होंने कहा कि जो भक्त पाप कर्म से दूर रहते हैं और वेद शास्त्रों में बताए गए विधि-विधानों के अनुसार कर्म करते हैं और जो स्वर्ग प्राप्ति की कामना से यज्ञ आदि सम्पन्न करते हैं, वे अपने पुण्यकर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। स्वर्ग के भोगों को भोगते हैं, किंतु जब उनके पुण्यफल के भोग का समय पूरा होने लगता है तो वे वापस फिर मृत्युलोक में आ जाते हैं अर्थात् ऐसे लोगों के जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। कुछ लोग अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए

अन्य दैवी-देवताओं की पूजा करते हैं। यद्यपि अन्य दैवी-देवताओं की पूजा भी परमेश्वर को ही प्राप्त होती है फिर भी इस प्रकार की पूजा अज्ञान से पूर्ण है क्योंकि देवी-देवताओं के रूप में सारी शक्तियाँ एक ही परम पिता परमात्मा की हैं।

इसलिए निष्काम भक्ति व विशुद्ध प्रेम के साथ एक मात्र परमात्मा की शरण में रहना चाहिए।

श्लोक का अर्थ - भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो भी भक्त मुझे पत्र, पुष्प, फल या जल भक्ति व प्रेम के साथ अर्पण करता है, उसे मैं स्वीकार करता हूँ क्योंकि वह भक्तिभाव से शुद्ध हृदय वाले के द्वारा अर्पण किया जाता है।

व्याख्या - ईश्वर की कृपा पाने के लिए धन, विद्वता. उच्च जाति आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती। ईश्वर की कृपापात्र बनाने की योग्यता केवल इतनी है कि भक्त को शुद्ध हृदय वाला होना चाहिए। शुद्ध हृदय वाला निर्धन भी हो सकता है और धनवान भी। उच्च जाति का भी हो सकता है और निम्न जाति का भी।

बात कहने में सरल है कि भक्त शुद्ध हृदय वाला होना चाहिए किंतु यह सरल है नहीं। सतत् साधना समायी है इस शुद्ध भक्ति में। यदि मनुष्य जीवन में सुख शांति व आनंद चाहता है तो उसे स्वयं अपना परिशोधन करना पड़ेगा। अपने अंदर से सारे विकारों को निकाल देना चाहिए। स्वार्थ अथवा निजी इच्छाओं का त्याग करना चाहिए। यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि ईश्वर उससे क्या अपेक्षा करता है, उसे ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलना चाहिए।

वास्तव में जिसके अंदर निष्काम भाव आ जाता है वह मुक्त कहलाता है और मुक्त मनुष्य ही भक्ति कर सकता है। भगवान की सेवा कर सकता है। जो मुक्त नहीं है अपनी

ही सांसारिक इच्छाओं से बँधा है वह तो व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति में ही लगा रहता है, उसे ईश्वर का अनन्य भक्त नहीं कहा जा सकता।

निष्काम भाव के साथ-साथ भक्ति प्रेम से आपूरित होनी चाहिए। भगवान को तो केवल निश्छल प्रेम व निर्मल भक्ति चाहिए, ऐसे प्रेमी भक्त से वे पत्र पुष्प जल भी ग्रहण कर लेते हैं और भक्त पर अपार कृपा बरसाते हैं। ग्रह करते हैं तो भक्त की प्रसन्नता के लिए ही वरन् भगवान को चाहिए क्या? वे तो आत्म-संतुष्ट हैं, स्वयं सबके दाता हैं।

भगवान भाव के भूखे होते हैं जो परमात्मा के प्रति पूरी निष्ठा प्रेम व श्रद्धा के साथ समर्पित होता है, वे उसी की भक्ति स्वीकार करते हैं।

श्रीकृष्ण ने श्लोक में 'प्रयत आत्मनः' शब्द कहा है अर्थात् निष्ठा व प्रेम तो हो ही, साथ ही मन वचन कर्म में पवित्रता व एकरूपता होना भी अनिवार्य है तभी भक्त प्रयतआत्मनः अर्थात् शुद्ध हृदयवाला कहलाएगा।

श्लोक में भगवान ने भक्ति शब्द को भी दो बार प्रयोग किया है क्योंकि उन्होंने भक्ति पर ही अधिक बल दिया है। प्रेम और भक्ति के बिना सारा ज्ञान, योग, तप, पांडित्य सब फीका है। इसलिए निर्मल हृदय व निष्काम भाव से की जाने वाली भक्ति ही सर्वोपरि है।

कहानी

शबरी का नाम सभी ने सुना है। वह भीलनी जाति की थी। यह श्रीरामजी के समय की बात है। उस समय भील जाति निम्न जाति थी। उस आदिवासी जाति का एक रिवाज था. जब भी कोई विवाह होता तो एक बकरे की बलि दी जाती। शबरी सब प्राणियों के

प्रति बहुत दयालु थी। उसने अपने विवाह पर इस प्रथा का बहुत विरोध किया। उसका कहना था कि जिस समय विवाह की शुरुआत ही किसी पशु की कराह से हो तो शेष विवाहित जीवन तो और भी भयंकर होगा। जब उसकी बात किसी ने न मानी तो वह रात के अंधेरे में जंगल की ओर भाग गई।

जंगल में मातंग ऋषि के आश्रम में उसने शरण ली। वह वहीं रहने लगी। एक बार मातंग ऋषि ने उसे बताया कि श्रीराम चौदह वर्ष के वनवास में हैं। वे सभी आश्रमों में जाते रहते हैं। तपस्या में लगे हुए ऋषियों की राक्षसों से रक्षा करते हैं। एक न एक दिन वे इस आश्रम में भी अवश्य आएँगे।

बस फिर क्या था? शबरी यही विचार करते हुए कि पता नहीं भगवान कब इस आश्रम में आ जाएँ, प्रतिदिन मार्ग को साफ करती रास्ते के कंकड़-पत्थर चुनकर फेंकती। वह सोचती कि सीता माता के कोमल पैरों में ये चुभ जाएँगे। जंगल में पड़े हुए शिलाखण्डों को धोकर साफ करती, समतल करती कि शायद किसी शिलाखण्ड पर बैठ कर विश्राम करें।

आश्रम के रास्ते पर फूलों को प्रतिदिन बिछाती, आसपास के झाड़-झंखाड़ों की काट छाँट करती कि कहीं ये श्रीरामजी के वस्त्रों से उलझ न जाएँ। जंगल में जो भी फल उपलब्ध होते उन्हें भेंट करने के लिए तोड़कर रखती।

जब बहुत प्रतीक्षा के बाद श्रीराम शबरी के आश्रम में आए तो शबरी प्रभो के प्रति प्रेम में ऐसी मग्न हो गई कि कुछ समय तो उसके मुँह से कोई बोल ही नहीं निकला।

फिर बार-बार उनके चरणों का स्पर्श किया। आदरपूर्वक उनके चरण धोए। सुंदर आसन पर बिठाया और रसीले बेर ले आई रामजी को खिलाने के लिए। कहीं रामजी

को कोई खट्टा वेर न खाना पड़ जाए, इसलिए प्रत्येक बेर को पहले चखकर देखती। जो बेर खट्टा होता उसे फेंक देती और जो मीठा होता, उसे श्रीराम को खाने के लिए दे देती।

श्रीराम भी बड़े प्रेम से उसके झूठे बेर खाते रहे।

शबरी बोली, "मैं तो मूर्ख गँवार हूँ। नहीं जानती कि आपकी स्तुति कैसे करुं ?"

तो परम दयालु, करुणा के सागर भगवान श्रीराम बोले -

"मैं तो केवल भक्ति का नाता जानता हूँ। जिनके पास जात-पाँत, कुल-धर्म, यश, धन, बल कुटुम्ब, चतुराई सब होती है, किंतु निश्छल भक्ति नहीं, वह मनुष्य वैसा ही है जैसेबिना जल का मेघ।"

"भगति हीन नर सोहई कैसा बिनु जल बारिद देखिअ जैसा।।

शबरी की इस कथा से यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए चतुराई या विद्वता की आवश्यकता नहीं होती।

मंत्र, स्तुति या श्लोक कंठस्थ करके रोज उच्चारण करने मात्र से ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त नहीं होता। आवश्यकता है हृदय को पवित्र बनाने की, मन की बुराइयों को, मलिनता को दूर करने की, निश्छल व निष्काम भक्ति की।

यदि सच्ची भक्ति व प्रेम तथा समर्पण के साथ परमात्मा को केवल पत्र, पुष्प, फल या जल अर्पण किया जाए तो निश्चय ही ईश्वर की कृपा प्राप्त होगी।

धर्मज और धर्म

”महाभारत में पांडवों के वनवास के समय एक बार द्रौपदी ने धर्मज से इस प्रकार कहा, ’धर्मज! आपसे बढ़कर धर्म का पालक दूसरा नहीं है। आपने छोटे से छोटे कार्य में भी धर्म को प्राण के समान प्रिय माना है। इसके बाद भी आपको अकल्पनीय दुःखों का सामना करना पड़ा। आपके धर्म ने आपकी किस प्रकार रक्षा की?’ धर्मज ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया. ”द्रौपदी! अनेक मुसीबतों के बावजूद मैंने धर्म का त्याग नहीं किया। यही मेरी महानता है। हमें कठिनाइयों के आगे झुककर धर्म को नहीं त्यागना चाहिए। कठिनाइयों में भी धर्म का पालन होना चाहिए। यही महानता का लक्षण है।”

ईश्वर एवं अवतार

1. श्लोक -

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्तः एव च ।। 10-20।।

शब्दार्थ -

अहम्	-	मैं
गुडाकेश	-	अर्जुन
सर्वभूतानाशय	-	सब प्राणियों के अन्तःकरण में
स्थित	-	निवास करता हूँ
आदि	-	प्रारम्भ
च	-	और
मध्यं	-	मध्य या पालन करने वाला
अंतः	-	अंत, समाप्ति
एव	-	केवल
च	-	और

संदर्भ - यह विभूति योग नामक दसवें अध्याय से लिया गया बीसवाँ श्लोक है। इस अध्याय में अर्जुन के द्वारा स्तुति व प्रार्थना करने पर भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी योगशक्ति व विभूतियों का वर्णन किया है। भक्ति योग का महत्व उसका फल व प्रभाव कहा है।

प्रसंग - इस अध्याय में अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति की तथा उनसे प्रार्थना की कि "आप परम ब्रह्म, परमधाम और परम पवित्र हैं। समस्त मुनिजन आपको सनातन दिव्य पुरुष, देवों का आदिदेव, अजन्मा तथा सर्वव्यापी कहते हैं, पर वास्तव में आपकी लीला को कोई नहीं समझ सकता। आप जो कुछ कहते हैं मैं उसी को सत्य मानता हूँ। आप ही सर्व समर्थ हैं इसलिए हे जनार्दन! आप अपनी योगशक्ति व समस्त उन विभूतियों का विस्तार से वर्णन करें जिनके द्वारा आप इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं।

हे योगेश्वर। आप बताएँ कि मैं आपको किस प्रकार से जानूँ? किस प्रकार से आपका चिंतन क?

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि, "तुम मुझसे अनन्य प्रेम करते हो अतः मैं तुम्हारे हित की इच्छा से परम प्रभावयुक्त वचनों को कहूँगा।"

वास्तव में मेरी उत्पत्ति को न तो देवतागण और ना ही महर्षि जान पाए हैं क्योंकि मैं ही इन सबकी तथा सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ। जो भी मेरी परम ऐश्वर्य रूप विभूति को व योगशक्ति को भलीभाँति जान लेता है वह निश्चल भक्ति से पूर्ण हो जाता है। निरंतर मेरा चिंतन करने वाले व प्रेम से भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्व ज्ञान प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझे ही प्राप्त हो जाते हैं। मैं ऐसे भक्तों के अंतःकरण में स्थित होकर उनके अज्ञान रूपी अंधकार को मिटा देता हूँ। तत्वज्ञान प्रदान करता हूँ।

मैं तुम्हें भी अपनी दिव्य विभूतियों के बारे में प्रधानता से कहूँगा। वास्तव में मेरे विस्तार का कोई अन्त नहीं है।

श्लोक का अर्थ - हे गुडाकेश! (हे अर्जुन) मैं सब प्राणियों के हृदय में स्थित सबकी आत्मा हूँ। मैं ही सबका प्रारम्भ हूँ, मध्य हूँ तथा अंत भी मैं ही हूँ।

व्याख्या - इस श्लोक में भगवान ने अर्जुन को 'गुडाकेश' कहा है। गुडाकेश का अर्थ होता है अज्ञान रूपी अंधकार को जीतने वाला। अर्जुन ऐसे अंधकार से ऊपर है। इसीलिए श्रीकृष्ण अपने नाना प्रकार के ऐश्वर्यों व विभूतियों के बारे में बताने को तैयार हो जाते हैं। वे अर्जुन को समझाते हैं कि वे ही समस्त दृश्य जगत व समस्त प्राणियों में स्थित आत्मा हैं। वे ही इस सृष्टि की उत्पत्ति का कारण हैं क्योंकि अपनी इच्छा (एकोऽहम् बहुस्यामि) से वे ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं और समस्त जीवों में पुनः परमात्मा के रूप में प्रकट होते हैं।

परम ब्रह्म परमेश्वर अपनी इच्छा से सर्वप्रथम पुरुष अवतार धारण करते हैं, फिर उन्हीं से सृष्टि रचना का कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

बिना परमात्मा के या बिना दिव्य चैतन्य के भौतिक जगत का विकास हो नहीं सकता। जब दिव्य चेतन सत्ता या परमात्मा इस सृष्टि में व्याप्त होते हैं तभी सृष्टि क्रियाशील हो पाती है और निरंतर विकास को प्राप्त हाती है। इस प्रकार सृष्टि का पालन करने वाले अर्थात् जीवों का मध्य भी वही है।

फिर एक कल्प बीत जाने पर सृष्टि का लय भी उन्हीं में हो जाता है। उनकी जिन शक्तियों के द्वारा जगत के सारे क्रियाकलाप चलते हैं, कल्प के अंत में उन शक्तियों को वापस अपने में समेट लेते हैं और सृष्टि का लय हो जाता है। इस प्रकार समस्त जीवों का अंत भी वही है।

इस प्रकार भगवान अपनी इच्छा से अपना विस्तार करते हैं। सृष्टि, स्थिति व लय का कारण बनते हैं। वे ही समस्त जगत में आत्म-तत्व रूप में व्याप्त रहते हैं। वह ही सारे जगत का आधार हैं, सबका जीवन है। सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करने वाले हैं।

संसार में सब कुछ नश्वर है, छूट जाता है। एकमात्र परमात्मा ही है जो सदा रहने वाले हैं, वही सत्य है और पाने के योग्य हैं।

परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा महान से महान है। कण-कण में व्याप्त है और सारा ब्रह्माण्ड उनमें व्याप्त है।

कहानी

एक बार संत नामदेवजी किसी जंगल से होकर जा रहे थे। मार्ग के किनारे पर एक शिव मंदिर स्थित था। नामदेव मंदिर में पहुँचे, वहाँ उन्होंने देखा कि एक बड़ी उच्च कोटि के संत विसोबा खेचर बड़ी निश्चिंतता से शिवलिंग पर पैर रखे हुए सोए हैं। जिस प्रकार से

भगवान विष्णु क्षीर सागर में शेषशैया पर शांत भाव से सोए रहते हैं, उसी प्रकार वे संत भी पूर्ण विश्रांति पाए हुए थे।

यह सब देखकर नामदेव के मन से उनके प्रति श्रद्धा कुछ डगमगा गई। उन्होंने सोचा, "ब्रह्मवेत्ता तो ब्रह्ममुहूर्त में ही उठ जाते हैं किंतु ये तो अभी तक सो रहे हैं, जबकि सूर्योदय हो चुका है। वह भी पावन विग्रह शिवलिंग पर पैर रखकर?"

वे ऐसा सोच ही रहे थे कि संत बोल पड़े, "आओ नामदेव।

"अरे! आप तो अंतरयामी हैं।" नामदेव ने चौंकते हुए कहा, "आप तन की भी जानते हैं. मन की भी जानते हैं, फिर भी कुछ संदेह होने लगा है। आप सूर्योदय के वाद भी सो रहे हैं वह भी शिवलिंग पर पैर रखकर?"

विसोबा खेचर ने कहा, "नामदेव! मैं अब बूढ़ा हो गया हूँ। मुझमें हिलने की शक्ति नहीं है। तुम मेरी सहायता करो। मेरे पैर उठा कर ऐसी जगह रख दो जहाँ शिव न हों।"

कोई भी स्थान परमात्मा से रहित नहीं है। खैर! नामदेव ने विसोबा के चरण खिसका कर दूसरी जगह रख दिए किंतु यह क्या? वहाँ भी शिवलिंग प्रकट हो गया। तीसरी जगह रखे तो वहाँ भी प्रकट हो गया। फिर चौथी जगह उन्हें खिसका कर पहुँचाया तो वहाँ भी शिवलिंग प्रकट हो गया। चारों दिशाओं में शिवलिंग प्रकट हो गए। यह देखकर नामदेव आश्चर्य से भर उठे पर संत विसोबा के चरणों में गिर पड़े और बोले, "आपकी चरणरज के प्रभाव से सब जगह शिव ही शिव प्रकट हो गए। मैं आपकी कैसे स्तुति करूँ?"

विसोबा खेचर ने कहा, "अरे नामदेव! विट्ठल जिसस विट्ठल है और नामदेव जिस तत्व के कारण नामदेव है, वह परम तत्व एक ही है। आत्मा-परमात्मा एक ही है, वह सब जगह है।"

जैसे सूर्योदय होने पर अंधकार दूर हो जाता है वैसे ही नामदेव के हृदय में ज्ञानोदय हो गया और अज्ञान दूर भाग गया! अब वे भी ब्रह्मज्ञानी हो गए थे।

जो भी मनुष्य परब्रह्म परमात्मा को आत्म रूप से जान लेता है। वह अविनाशी पद को पाकर परमधाम पहुँच जाता है।

2. श्लोक -

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः।
नाना विधानि दिव्यानि नाना वर्णाकृतीनि च।। 11-5।।

शब्दार्थ -

पश्य	-	देखो
मे	-	मेरे
रूपाणि	-	रूपों को
पार्थ	-	अर्जुन
शतशः	-	सैकड़ों
अथ	-	इसी प्रकार
सहस्त्रशः	-	हजारों
नाना विधानि	-	अनेक प्रकार के
दिव्यानि	-	अलौकिक
नाना	-	विभिन्न
वर्णाकृतीनि	-	(वर्ण + आकृतीनि) रंग और आकार वाले

संदर्भ - यह ग्यारहवें अध्याय का पाँचवाँ श्लोक है। इस अध्याय का नाम विश्वरूप दर्शन योग है। दसवाँ अध्याय जहाँ सृष्टि के कण-कण में ईश्वर का दर्शन कराता है. वहीं इस अध्याय में ईश्वर के विराट शरीर में सम्पूर्ण ब्रह्मांड को बताया है। ईश्वर इस सृष्टि तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उससे भी परे है।

जहाँ तक यह कहा जाता है कि ईश्वर कण-कण में व्याप्त है, वहीं इस अध्याय को समझने के बाद कहना पड़ता है कि ईश्वर असीम है, सारे ब्रह्माण्ड उसी के अंतर्गत हैं।

प्रसंग - इससे पूर्व दसवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया कि वे अनादि हैं, अजन्मा है। वे ही सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति का कारण हैं। सृष्टि का आदि, मध्य तथा अंत भी वही हैं। वे प्रत्येक प्राणी में स्थित हैं इस सम्पूर्ण विश्व में जो भी कुछ ऐश्वर्ययुक्त हैं, कांतियुक्त है, शक्तियुक्त है, वह सब परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है। परमात्मा के विस्तार का कहीं कोई अंत नहीं है। इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि अपनी योगशक्ति के एक अंशमात्र से परमात्मा इस सारे जगत को धारण करने वाले हैं।

इस अध्याय में वर्णन है कि अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि -

”हे कमलनेत्र। मैंने आपसे समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और लय को विस्तारपूर्वक सुना. आपकी महिमा जानी किंतु आपके मान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से युक्त ईश्वरस्वरूप को मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। यदि आप ऐसा मानते हैं कि मैं आपके उस स्वरूप का दर्शन करने योग्य हूँ, तो हे योगेश्वर। उस अविनाशी स्वरूप का मुझे दर्शन कराइए।”

अर्जुन के द्वारा इस प्रकार प्रार्थना करने पर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने विराट सगुण विश्व स्वरूप के दर्शन कराए।

श्लोक का अर्थ - अपने विराट विश्वरूप का दर्शन कराते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं .

”हे पृथापुत्र अर्जुन! मेरे सैकड़ों इसी प्रकार के हजारों अलौकिक दिव्यस्वरूप देखो, जो अनेक रंगों वाले हैं और अनेक प्रकार की आकृति वाले हैं।

व्याख्या - अर्जुन भगवान के विश्व रूप का दर्शन करना चाहता था। कोई भी साधारण व्यक्ति ईश्वर के विराट स्वरूप का दर्शन नहीं कर सकता, किंतु अर्जुन श्रीकृष्ण का अंतरंग मित्र था, विद्वान था, धैर्यवान था। अतः उन्होंने अर्जुन को विशेष शक्ति व विशेष दृष्टि प्रदान की, जिसके द्वारा उसने रथ पर बैठे-बैठे ही अनेकों लोकों को तथा ब्रह्माण्डों को देखा। उसे भगवान के अनुग्रह से इतनी शक्ति प्राप्त हो गई थी कि वह भूत, वर्तमान और भविष्य सब देख सकता था। वह आदि से अंत तक की सब वस्तुएँ देख रहा था।

उसने भगवान के विराट शरीर में अनेकों मुख, हाथ, पैर व पेट देखे। उनके शरीर का ना कहीं कोई प्रारंभ दिखाई देता था ना ही अंत। उनके रूप का तेज कोटि-कोटि सूर्यों के समान था जो आँखों को चकाचौंध किए दे रहा था। अनेकों ब्रह्माण्ड उन्हीं से निकल रहे थे और उन्हीं के मुख में पुनः प्रवेश कर रहे थे। नाना प्रकार के प्राणी उन्हीं के शरीर से निकलकर उन्हीं में समा रहे थे, यहाँ तक कि समस्त देवतागण महर्षि आदि भी उन्हीं के शरीर में स्थित थे। ऐसे अद्‌भुत स्वरूप का दर्शन अर्जुन ने किया। वह कुछ भयभीत हो गया तथा आश्चर्यचकित भी हुआ।

उसने देखा कि विपक्ष के सारे नेता व सैनिक तथा उसके भी सैनिक सब नष्ट हो रहे हैं। जिस प्रकार से पतंगे प्रज्वलित अग्नि में कूद पड़ते हैं और विनाश को प्राप्त होते हैं. उसी प्रकार सारे योद्‌धा पूरे वेग से भगवान के मुख में प्रवेश करते जा रहे थे।

भगवान ने घोषणा की कि समस्त जगत की उत्पत्ति का कारण मैं हूँ किंतु इस सारे जगत को नष्य करने वाला भी मैं ही हूँ। तुम्हारे व तुम्हारे भाइयों के अलावा मैं यहाँ रणभूमि में जो भी उपस्थित है, सबके विनाश के लिए आया हूँ। यदि तुम युद्ध नहीं करोगे तो भी ये सब किसी न किसी प्रकार विनाश को अवश्य प्राप्त होंगे। सारे संसार को एक दिन नष्ट होना है। यही प्रकृति का नियम है।"

अब अर्जुन समझ गया था कि सबको अवश्य ही किसी न किसी प्रकार नष्ट होना है तो क्यों ना ईश्वर-इच्छा का पालन किया जाए। स्वधर्म का पालन किया जाए। युद्ध किया जाए।

अर्जुन भगवान को बहुत प्रिय था। इसीलिए तीनों लोकों में, भूत में, वर्तमान में, भविष्य में, ऊपर-नीचे, यहाँ-वहाँ सर्वत्र व्याप्त विराट परमेश्वर के दर्शन कर सकने में समर्थ हो सका।

प्रत्येक मनुष्य को ईश्वर का प्रिय बनना चाहिए। इस सारी सृष्टि में उसकी अनुभूति करना चाहिए। उसकी रचना से प्रेम करना चाहिए, क्योंकि सबमें वही है। पवित्र नदियों में, विशाल, पर्वतों में, गंभीर सागर में, गोमाता के रूप में, मधुर कोयल के रूप में, सुंदर मोर के रूप में, सिंह में, ज्वालाओं में और न जाने कितने असंख्य प्राणियों में वही है। चींटी से लेकर विशाल ब्रह्माण्ड तक सर्वत्र वही व्याप्त है।

यह जगत समस्त प्राणियों का कर्मक्षेत्र है। भगवान बड़े दयालु हैं, योजनाएँ उन्हीं की होती हैं, किंतु श्रेय वे अपने भक्तों को दिलाते हैं।

यहाँ, 'आना' अर्थात् 'संसार में जन्म लेना' मनुष्य के लिए पुनः ईश्वर तक पहुँचने के लिए एक सुंदर अवसर है। जो लोग संसार में लिप्त रहते हैं। स्वयं की इच्छाओं से बंधे रहते हैं, वे ही इस संसार से बार-बार बँधते हैं परंतु जो ईश्वर की योजना को या इच्छा को समझ

लेते हैं और उन्हीं की इच्छानुसार जीवन के मार्ग को तय करते हैं, वे अवश्य और शीघ्र ही ईश्वर तक पहुँच जाते हैं। परमधाम तक पहुँचना ईश्वर तक पहुँचना हर प्राणी का अंतिम लक्ष्य है।"

परमात्मा की इस कृपा को पाने के लिए सदा उन्हीं की शरण में रहना चाहिए। उन्हीं का नाम-स्मरण व चिंतन करते हुए अपने कार्य पवित्रतापूर्ण ढंग से पूरे करने चाहिए।

कहानी

स्वयं भगवान बाबा इस सम्बन्ध में एक कहानी सुनाया करते हैं। एक बार किसी साधक को परमात्म तत्व जानने की जिज्ञासा हुई। वह एक गुरु के पास पहुँचा। गुरु एक गुफा में निवास करते थे। गुफा में अंधकार था। भय के कारण गुफा में आगे बढ़ते हुए उसने 'ओम नमः शिवाय' का मंत्र दोहराना प्रारम्भ कर दिया।

आवाज सुनकर संत ने पूछा -

"कौन है?"

"मैं एक जिज्ञासु हूँ। आपका अनुग्रह पाने आया हूँ।" साधक ने कहा। संत ने उसके हृदय की बात जान ली। उन्होंने कहा, "पहले उस बुझे हुए दीपक को जलाओ। उसके बाद ही मैं बात करूँगा।"

साधक ने दियासलाई से दिया जलाने का प्रयास किया किंतु असफल रहा। गुरु ने दिये में तेल देखने को कहा। उसमें तेल नहीं, पानी था। गुरु ने आदेश दिया कि वह पहले दिये से पानी निकाल कर फेंक दे, तेल डाले।

उसने ऐसा ही किया, फिर भी दिया जलाने पर नहीं जला।

गुरु ने कहा, ”शायद बत्ती गीली है। पहले उसे सुखा लो।”

कुछ देर में बत्ती सूख जाने पर दिया जलाने पर जल गया। अब साधक ने गुरु के समक्ष अपने प्रश्न रखे। गुरु ने बताया कि वह जो भी क्रियाएँ कर रहा था उसी में उत्तर निहित है।

उन्होंने समझाया, ”मान लो, तुम्हारा हृदय दीपक है। उसमें जो बत्ती है वह जीवात्मा है। इन्द्रिय आसक्ति रूपी जल में डूब कर यह गीली हो गई है, इसीलिए जल नहीं पा रही। अपने हृदय से कामना रूपी जल को निकाल फेंको। उसमें भगवान का नाम-स्मरण रूपी तेल भर दो। इस जीवात्मा रूपी बत्ती को वैराग्य की धूप में सुखाओ।

उसके बाद जब तुम मेरे पास आओगे, तो अवश्य ही तुम्हारे हृदय में ज्ञान का प्रकाश आलोकित हो उठेगा।”

गुरु, सत्संग, स्वाध्याय, सद्ग्रंथ यह सब ही दियासलाई हैं. जहाँ ज्ञानाग्नि समाई है।

वास्तव में नाम-स्मरण व समर्पित भक्ति के द्वारा ही ईश्वर की कृपा पाई जा सकती है। उसी की कृपा से परमात्म-तत्व का ज्ञान प्राप्त होता है।

3. श्लोक -

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।।

प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।15-14।।

शब्दार्थ -

अहं	-	मैं
वैश्वनरो	-	वैश्वानर अग्नि
भूत्वा	-	बनकर
प्राणिनां	-	सभी प्राणियों के
देहं	-	शरीर में
आश्रित	-	रहता हूँ
प्राणपान	-	(प्राण + अपान) प्राण और अपान वायु
समायुक्तः	-	युक्त होकर
पचाम्यन्नं	-	(पचामि + अनं) अन्न को पचाता हूँ
चतुर्विधं	-	चारों प्रकार के

संदर्भ - यह श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय का चौदहवाँ श्लोक है। इस अध्याय को पुरुषोत्तम प्राप्ति योग नाम दिया गया है। इस अध्याय में जीवात्मा का विषय है। क्षर और

अक्षर पुरुषोत्तम का विषय है, उनका जगत में प्रभाव बतलाया गया है तथा भगवद् प्राप्ति का उपाय बताया गया है।

प्रसंग - इस अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने इस संसार की तुलना पीपल के उलटे वृक्ष से की है अर्थात जिसकी जड़ें या मूल ऊपर की ओर हो तथा शाखाएँ व पत्ते नीचे की ओर फैले हों।

उलटे वृक्ष से तुलना इसलिए की है क्योंकि परम-पुरुष उच्चतम् है और वही इस दिश्व का आधार है। उनसे प्रकृति और पुरुष की उत्पत्ति हुई। श्रीकृष्ण समझाते हैं कि इस संसार रूप वृक्ष का मूल अर्थात् जड़ ऊपर है। पुरुष और प्रकृति से युक्त तने से अनेकों शाखाएँ नीचे की ओर फैली हैं। मानो ये शाखाएँ देव, मनुष्य व अन्य प्रकार के प्राणी हैं। वेद उसके पत्ते है। इस प्रकार यह संसार रूपी वृक्ष कल्प के आरम्भ में परम पुरुष से उत्पन्न होकर कल्प के अंत में उसी परम पुरुष में लीन हो जाता है। जो मनुष्य सम बुद्धि प्राप्त कर लेते हैं। झूठी प्रतिष्ठा, मोह, कुसंगति तथा भौतिक कामनाओं से मुक्त हैं। परमात्मा की शरण में है तथा शाश्वत तत्व को भलीभाँति समझते हैं, वे ही शाश्वत पद अर्थात् पुरुषोत्तम को प्राप्त करते हैं। ईश्वर स्व-प्रकाशवान है।

आगे भी भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि का तेज मुझसे ही उत्पन्न है।

मैं ही सूर्य के तेज के रूप में सारे संसार को प्रकाशित करता हूँ। जीवन प्रदान करता हूँ। मैं ही चन्द्रमा के रूप में समस्त वनस्पतियों का पोषण करता हूँ। मैं ही प्रत्येक जीव के हृदय में आसीन हूँ।

श्लोक का अर्थ - मैं वैश्वानर अग्नि के रूप में समस्त प्राणियों के देह में रहता हैं। प्राण और अपान वायु से युक्त होकर चारों प्रकार के भोजन को पचाता हूँ।

व्याख्या - प्राणवायु वह है जिसे हम श्वास द्वारा अंदर ग्रहण करते हैं और अपान वाय वह है जिसे उच्छवास द्वारा बाहर निकाले हैं। महान जीवन शक्ति वैश्वानर अग्नि पाचक अग्नि के रूप में समस्त प्राणियों के शरीर में स्थित है। यही शक्ति अर्थात् पाचक अग्नि जब तीव्र होती है तो मनुष्य को भूख लगती है। भोजन ग्रहण करने के बाद भोजन के पोषक तत्वों द्वारा शरीर का पोषण करती है। यही शक्ति आँतों को भी शक्ति देती है, जिससे वह अनावश्यक और बिना पचे हुए पदार्थों को बाहर निकाल देती है।

भोजन चार प्रकार से मनुष्य खाता है -

1. चबाकर

3. पीकर तथा

2. चाटकर

4. चूसकर

मनुष्य किसी भी प्रकार से भोजन ग्रहण करे, यह वैश्वानर अग्नि सबको पचा देती है।

जब तक यह वैश्वानर शक्ति शांत रहती है तो मनुष्य को भूख नहीं लगती, किंतु जब शरीर को आवश्यकता होती है तो यह अग्नि प्रज्वलित हो जाती है और मनुष्य को भोजन ग्रहण करने की इच्छा होती है। जब यह मंद रहती है तो उपचार की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार से मनुष्य भोजन ग्रहण करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। यह अग्नि भगवान का ही रूप है। जब तक वे मनुष्य की सहायता नहीं करते, तब तक मनुष्य न तो खा सकता है, ना ही पचा सकता है।

वास्तव में भगवान बड़े दयालु हैं। वे ही समस्त प्राणियों के लिए अन्न उत्पन्न करते हैं। अन्न व वनस्पतियों को स्वादिष्ट बनाते हैं उन्हीं की कृपा से प्राणी भोजन ग्रहण करता है। उन्हीं की कृपा से भोजन पचता है। शरीर का पोषण होता है। स्वस्थ शरीर के द्वारा मानव समाज अपने नित्य के कार्य करता हुआ, सुख से रहता है, जीवन का आनंद उठाता है। इस प्रकार ईश्वर सबके लिए कल्याणकारी है।

हमें चाहिए कि हम उनके आभारी रहें। उनके आदेशानुसार जीवनयापन करें। शुद्ध व सात्विक भोजन के द्वारा शरीर को पवित्र बनाए रखें, क्योंकि इस शरीर में उनका वास होता है। वैसे देखा जाए तो भोजन ग्रहण करना भी एक प्रकार का यज्ञ है क्योंकि भोजन द्वारा हम उस शरीर को स्वस्थ व शक्तिवान बनाते हैं, जो ईश्वर ने हमें दूसरों की सेवा करने के लिए दिया है। सेवा तभी सही ढंग से हो सकती है जब मन में, विचारों में पवित्रता होगी। विचारों में पवित्रता पवित्र व सात्विक भोजन से आती है। जैसा आहार ग्रहण किया जाता है, वैसे ही विचार उत्पन्न होते हैं, इसलिए तामसिक, बासी, अधिक चटपटे, अधिक खट्टे आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

कहानी

अनीतिपूर्वक कमाए हुए धन से प्राप्त किया हुआ भोजन भी मन को मलिन बनाता है, यह महाभारत काल की एक घटना से स्पष्ट होता है।

महाभारत के युद्ध के दसवें दिन भीष्म पितामह अर्जुन के बाणों से जख्मी हो गए और गिर पड़े। युद्ध के अंतिम दिन अर्थात् अठारहवें दिन तक वे शर-शैया पर ही पड़े-पड़े युद्ध देखते रहे। उन्हें इच्छा-मृत्यु का वरदान मिला था। वे जब तक चाहे अपनी मृत्यु को रोक सकते थे। युद्ध में विजयी होकर पाण्डव द्रोपदी सहित पितामह के पास उनके दर्शन के लिए पहुँचे। उन्होंने शर शैया पर लेटे-लेटे ही सबको बहुत स्नेह दिया फिर उन्हें

शांति पर्व का उपदेश दिया। सुनते-सुनते द्रोपदी अचानक हँस पड़ी। तब उससे हँसने का कारण जानना चाहा तो वह बोली - "पितामह आप हम लोगों के पूजनीय हैं। जब भरी सभा में दुर्योधन मेरा अपमान कर रहा था, तब आपने उसे धर्म की शिक्षा नहीं दी। जब धर्मराज युधिष्ठिर ने जुए में हारने के पश्चात मुझे भी दाँव पर लगा दिया और हारने के पश्चात वन में जाना निश्चित किया। उस समय आप कुछ नहीं बोले। मुझे भरी सभा में अपमानित करना क्या न्यायसंगत था? उस समय मैंने आपसे न्याय माँगा था किंतु आप चुप रहे। उस समय आपके धर्माचरण को क्या हो गया था? मेरे पति जो सदा ही धर्माचरण करते रहे उन्हें आप धर्माचरण का उपदेश दे रहे हैं, जबकि इस समय इन बातों की कोई आवश्यकता ही नहीं है।"

भीष्म पितामह से कुछ देर कोई उत्तर नहीं बन पड़ा. फिर बोले, "बेटी में तुम्हारे साहस और स्पष्टवादिता से बहुत प्रसन्न हूँ। वास्तव में मैंने अनेक वर्षों से अधर्मी राजाओं की सेवा की है। उन पापियों द्वारा दिए गए भोजन को मैंने ग्रहण किया है। उस भोजन को खाकर मेरा विवेक समाप्त हो गया था। उचित और अनुचित धर्म-अधर्म का मान समाप्त हो गया था। अब अर्जुन के तीरों से मेरा अशुद्ध रक्त बाहर निकल गया है अतः मेरा विवेक फिर जाग गया है, इसलिए अब धर्म की शिक्षा दे रहा हूँ।

इस घटना से यह शिक्षा मिलती है कि गलत कार्यों द्वारा कमाए धन से भले ही कोई भौतिक उन्नति कर ले किंतु उसका धर्म नष्ट हो जाता है। उसके कार्य अनैतिक हो जाते हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि भोजन को शुद्ध रखने के लिए तीन प्रकार की शुद्धि की आवश्यकता है।

1. पात्र शुद्धि, 2. पदार्थ शुद्धि तथा 3. पाक शुद्धि

4. श्लोक -

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ।।4-38।।

शब्दार्थ -

परित्राणाय	-	रक्षा करने के लिए
साधूनां	-	सज्जनों की
विनाशाय	-	नाश करने के लिए
दुष्कृताम	-	दुष्ट कर्म करने वाले व्यक्ति
धर्म	-	सदाचार
संस्थापनार्थाय	-	धर्म की स्थापना करने के लिए
संभवामि	-	प्रकट होता हूँ
युगे - युगे	-	समय - समय पर

संदर्भ - यह श्रीमद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय 'ज्ञानकर्मसंन्यास योग' का आठवाँ श्लोक है। इस अध्याय में ईश्वर के सगुण स्वरूप का प्राकट्य तथा उनका प्रभाव, कर्मयोग तथा भिन्न-भिन्न यज्ञ और उनका प्रभाव बताया गया है। योगीजनों का आचरण व उनकी महिमा बताई गई है। ज्ञान की महिमा तथा ज्ञान प्राप्ति की साधनाएँ सिखलाई गई हैं।

प्रसंग - तृतीय अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग की शिक्षा दी। इस चौथे अध्याय में उन्होंने अर्जुन को बताया कि मैंने इस अविनाशी कर्मयोग को सर्वप्रथम सूर्यदेव से कहा था। सूर्यदेव विवस्वान सौर मण्डल का राजा है. जो भगवान के आदेश से घूमता है तथा उन्हीं से तेज ग्रहण करके फिर समस्त लोकों को उष्मा तथा प्रकाश देता है। सूर्य ने इस योग की शिक्षा अपने पुत्र मनु को दी। समस्त मनुष्य जाति के जनक मनु ने इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा। उसके बाद एक-एक करके अनेक राजाओं ने जाना। बाद में यह इ पान पृथ्वीलोक में लुप्तप्राय: हो गया।

मेरे बहुत प्रिय सखा तथा भक्त हो। इसलिए अब तुमसे कह रहा हूँ।" भगवान "तुम श्रीकृष्ण के ऐसे वचन सुनकर अर्जुन के मन में संदेह उठा। उसने कहा कि, "आपका जन्म तो अभी का है। आप अभी मेरे समकालीन हैं।" सूर्य का जन्म तो सृष्टि के प्रारम्भ में ही हो चुका था। तब मैं इस बात को किस प्रकार समझे कि आप ही ने कल्प के प्रारम्भ में यह कर्मयोग सूर्य से कहा था?

इस पर भगवान ने कहा, "हे परंतप अर्जुन तुम्हारे और मेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। तुम्हें उन सबका स्मरण नहीं रहा है किंतु मैं जानता हूँ। यद्यपि में अजन्मा हूँ, अविनाशी हूँ, समस्त जीवों का स्वामी हूँ, फिर भी प्रत्येक युग में आता रहता हूँ।'

जीवात्मा और परमात्मा में यही अंतर है। जीवन इस भौतिक जगत के सम्पर्क में आते ही पिछले जन्म की सारी घटनाएँ भूल जाता है, जबकि परमात्मा भौतिक सम्पर्क में रहते हुए भी अपने आप को नहीं भूलते। वे तो भक्तों के लिए इस भौतिक जगत में अनेक रूपों में अवतरित होते रहते हैं।

श्लोक का अर्थ - सज्जनों की रक्षा व उद्धार करने के लिए एवं दुष्ट कर्म करने वाले दुष्टों के विनाश के लिए तथा धर्म की पुनर्स्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में प्रकट होता रहता हूँ।

व्याख्या - ईश्वर अजन्मा, अविनाशी है। उनका ना तो जन्म होता है ना मृत्यु। साधारण मनुष्यों को वे जन्म लेते प्रतीत होते हैं पर इस प्रकार जन्म लेना भी उनकी ही लीला का एक अंग है। मनुष्यों का जन्म कर्म करने के लिए तथा उन कर्मों के फल भोगने के लिए होता है. जबकि ईश्वर का जन्म उनकी लीला है। वे देह परिवर्तन नहीं करते बल्कि स्वयं से ही एक नए स्वरूप का सृजन कर लेते हैं। उनके लिए अच्छे व बुरे कर्मों का संचय नहीं

होता। भौतिक सम्पर्क में आने पर भी उनकी दैवी प्रकृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ईश्वर के अवतार लेने का कोई उद्देश्य होता है और वह उद्देश्य अवश्य ही पूरा होता है

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे साधुओं की रक्षा के लिए तथा दुष्टों के विनाश के लिए बार-बार धरती पर अवतरित होते हैं। वैसे यह कार्य तो ईश्वर की कोई भी शक्ति सम्पन्न कर सकती है, किंतु अपने भक्तों की संतुष्टि के लिए वे स्वयं अवतरित होते हैं, क्योंकि वे अपने भक्तों से बहुत प्रेम करते हैं। उदाहरण के लिए प्रहलाद की रक्षा तथा हिरण्यकशिपु के विनाश के लिए उनका अवतार हुआ।

भगवान श्री सत्य साई बाबा कहते हैं कि आज समाज से सदाचार का लोप हो चुका है। प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ बुराइयाँ भरी हुई हैं, किस-किस का विनाश किया जाए? आवश्यकता है आज वैदिक शिक्षाओं की पुनर्स्थापना की।

वास्तव में मनुष्यों के अंदर दिव्य चेतना को जगाने तथा सदप्रवृत्तियों का पोषण करने के लिए और दुष्प्रवृत्तियों के विनाश के लिए भगवान धरती पर आते हैं। लोगों के अंदर सात्विक प्रवृत्तियों अथवा गुणों के संवर्धन करने से ही साधुओं की रक्षा हो सकती है। यहाँ पर साधु का अभिप्राय संन्यासी अथवा योगी से नहीं है बल्कि वे सब साधु हैं, सज्जन हैं, जो स्वधर्म का पालन करते हैं, सत्य का पालन करते हैं, विनयशील हैं और ईश्वर में आस्था रखते हैं।

भगवान बुद्ध ऐसे समय में आए, जब चारों ओर भौतिकवाद का बोलबाला था। लोग अनाचारी हो रहे थे। पशु बलि जैसी कुप्रथा थी। उस समय उन्होंने लोगों को सदाचार का पाठ सिखाया। अहिंसा जैसे वैदिक नियमों की स्थापना की। किंतु जो ईश्वर में आस्था नहीं रखते। पाप करने से नहीं डरते। अनाचारी हैं, लोगों को प्रताडित करते रहते हैं और दुष्कर्मों में लगे रहते हैं। ईश्वर की अवहेलना करते हैं उन्हें दण्ड अवश्य मिलता है।

कहानी

अवतार कथा 1

ईश्वर का अवतार सर्वप्रथम मत्स्य के रूप में हुआ। कल्प के अंत में ब्रह्मरात्रि प्रारंभ हुई। नींद में ब्रह्माजी के मुख से वेद नीचे गिर पड़े। हयग्रीव नाम का राक्षस उन्हें चुरा कर ले गया। वह पाताल लोक में जाकर छिप गया। सारे संसार में अज्ञान का अंधकार फैल गया। त्राहि-त्राहि मच गई। ब्रह्माजी विष्णुजी की शरण में पहुँचे और उनसे वेदों की रक्षा के लिए प्रार्थना की।

एक दिन मनु समुद्र के किनारे तप कर रहे थे तर्पण करते समय उनकी अंजलि में जल के साथ एक छोटी सी मत्स्य आ गई (मत्स्य मछली को कहते हैं)। मनु उसे वापस पानी में छोड़ने लगे कि मत्स्य ने ऐसा करने से रोका। मत्स्य और कोई नहीं स्वयं भगवान विष्णु थे।

मनु ने दयावश उसे एक कलश में रख दिया किंतु वह जल्दी-जल्दी बढ़ता चला गया। मनु ने उसे सरोवर में छोड़ दिया। उसका बढ़ना अभी भी नहीं रुक रहा था। मनु फिर उसे वापस समुद्र में डालने लगे और बोले कि मैंने तुम्हारे जैसा जलचर आज तक नहीं देखा। तुम अवश्य ही कोई अपूर्व प्राणी हो। मुझे तो लगता है कि यह ईश्वर की ही कोई लीला है. तुमने अवश्य ही जनकल्याण के लिए जन्म लिया होगा। मत्स्य के रूप में भगवान ने मनु की बात सुनी फिर कहा, ”आज से सातवें दिन प्रलय हो जाएगी। चारों ओर जल ही जल होगा। सब कुछ पानी में डूब जाएगा। तुम एक बड़ी-सी नौका बना लो और आवश्यक दवाइयाँ बीज इत्यादि लेकर उसमें बैठ जाओ। जब बड़ी-बड़ी लहरों के कारण

नौका डगमगाने लगे तो घबराना नहीं और वासुकी नाग को रस्सी के रूप में मेरे सींग से बाँध देना, फिर प्रलय तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगी।"

जब प्रलय हुई, सब कुछ पानी में डूब गया। सारे प्राणी पानी में डूब गए तब पुनः मत्स्य अवतार प्रकट हुए और नौका को खींच ले चले। उन्होंने मनु और उनकी पत्नी इड़ा को हिमालय के शिखर तक पहुँचा दिया। इस प्रकार मनु सुरक्षित बच गए। उसके बाद उन्होंने हयग्रीव को मारा और वेद लेकर बह्माजी को लौटा दिए। इस प्रकार उन्होंने मत्स्य अवतार लेकर ज्ञान की रक्षा की। और मनु ने भी फिर से पृथ्वी पर मानव जाति को बसाया। औषधियों को, वनस्पतियों को, और प्राणियों को फलने- फूलने का मौका दिया।

ईश्वर सबका पालन करने वाले और सदज्ञान तथा सज्जनों की रक्षा करने वाले हैं।

अवतार कथा 2

त्रेतायुग में अनेक राक्षस जातियाँ उत्पात मचाए हुए थी। राक्षसों के विनाश के लिए और ऋषि-मुनियों की रक्षा के लिए तथा समाज में स्व-आचरण के द्वारा नैतिक आदर्शों की स्थापना के लिए ईश्वर ने रामावतार धारण किया।

जब वे किशोर आयु के ही थे तब विश्वामित्र के द्वारा आग्रह करने पर वे उनके साथ वन में गए। वन में ऋषि-मुनि यज्ञ कर रहे थे। राक्षस लोग वहाँ आकर उनकी तपस्या में बाधा डालते थे। आश्रमों में उत्पात मचाते थे तथा यज्ञों को दूषित किया करते थे। श्रीराम ने अपने भाइयों सहित उन ऋषि-मुनियों की रक्षा की। राक्षसों को मारा तब मुनिगण अपने यज्ञ भलीभाँति सम्पन्न कर सके।

उसके पश्चात चौदह वर्ष के वनवास के समय भी अनेक राक्षसों का वध किया। इधर निषादराज तथा शबरी जैसे भक्तों पर अपार कृपा की। अहिल्या का उद्धार किया।

वास्तव में वनवास तो उनकी लीला का एक अंग था। वनवास तो एक बहाना था, उस अवधि में उनका मुख्य उद्देश्य दुष्ट राक्षस जाति का विनाश ही था यह जाति वनों में ही निवास करती थी।

इधर लंका का राजा रावण जो महाप्रतापी तथा महाविद्वान था। अपने अहंकार के मद में अधर्मी हो गया था। कामांध हो गया ता। उसने श्रीराम की पत्नी सीताजी का ही हरण कर लिया तब श्रीराम ने उससे युद्ध करके उसका वध किया।

सीता हरण भी उनकी पूर्व नियोजित लीला का ही एक अंग था। रावण का वध तो उनके ही हाथों होना था।

श्रीराम जो आदर्श समाज में स्थापित करना चाहते थे, उन्हें अपने आचरण के द्वारा प्रस्तुत करते थे। वे लोकरंजक थे। प्रजा का आनंद ही उनका आनंद था। मातृ-पितृ भक्ति,

भातृ-स्नेह, सदाचार की शिक्षा, स्वयं के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत की, मर्यादा का पालन तथा एक पत्नी व्रत की परम्परा कायम की। निषाद राज जैसे भील से मित्रता करके उन्होंने छुआछूत तथा जातिगत भेदभाव को भी दूर किया।

वास्तव में ईश्वरीय कार्य को समझना सरल नहीं है, उनका जन्म दिव्य होता है। उनका कर्म दिव्य होता है। वर्तमान में परम दिव्यात्मा भगवान श्री सत्य बाबा मनाव देह में इस भारत भूमि पर विद्यमान हैं। वे अपने प्रेम से लोगों का हृदय परिवर्तन कर उनके अंदर से बुराइयों का नाश कर देते हैं। उनका आगमन सत्य की स्थापना, असत्य के उन्मूलन तथा मानव मात्र के कार्यों में नैतिक आदर्शों की स्थापना के लिए हुआ है।

5. श्लोक -

यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽमानं सृजाम्यहम् ।।14-7।।

शब्दार्थ -

यदा-यदा	-	जब जब
हि	-	निश्चय ही
धर्मस्य	-	धर्म की
ग्लानि	-	हानि
भवति	-	होती है।
भारत	-	अर्जुन
अभ्युत्थानम्	-	वृद्धि
अधर्मस्य	-	अधर्म की (अभ्युत्थानम् + अधर्मस्य तदाऽत्मानं (तद् + आत्मानं) तब स्वयं अपने को सृजाम्यहम् (सृजामि + अहम्)
सृजामि	-	प्रकट करता हूँ
अहम्	-	मैं

नोट - यह चौथे अध्याय का सातवाँ श्लोक है। शेष संदर्भ व प्रसंग पिछले श्लोक के संदर्भ व प्रसंग की ही भाँति।

श्लोक का अर्थ - भगवान श्रीकृष्ण घोषणा करते हैं कि "हे अर्जुना निश्चय ही जब-जब धर्म की हानि होती है. (सदाचार की अवनति होती है) तथा अधर्म की वृद्धि होने लगती है तब तब मैं अपना सृजन करता हूँ. अर्थात् स्वयं को प्रकट करता हूँ. अवतार लेता हूँ।

व्याख्या - इस श्लोक में प्रयुक्त हुआ शब्द 'सृजामि' बहुत महत्वपूर्ण है। वे जन्म नहीं लेते बल्कि परिस्थिति और काल के अनुसार स्वयं को प्रकट करते हैं

"अवतार" शब्द का अर्थ है नीचे उतरना। भगवान का उस विभाजन रेखा से नीचे उतरना, जो भगवान को मानव जगत से अलग करती है। जब निर्गुण, निराकार ईश्वरीय सत्ता या परम दिव्य चेतना सगुण साकार स्वरूप में मनुष्य के रूप और स्वभाव में प्रकट होती है तो मनुष्य उसे अवतार कहते हैं।

भगवान मानव जाति को अज्ञान तथा अविद्या से बाहर निकालने के लिए धरती पर आते हैं। ईश्वर के प्रति मनुष्यों की डगमगाती हुई आस्था को दृढ़ करने के लिए आते हैं। भगवान मनुष्यों की भाँति जन्म लेते हैं। मनुष्यों की भाँति व्यवहार करते हैं ताकि मनुष्य उनकी लीलाओं को देखकर तथा उनके दिव्य वचनों को सुनकर, उनके धरती पर आने के उद्देश्य को अच्छी तरह समझ सके।

सांसारिक विषयों में आसक्त व्यक्तियों के लिए परमात्मा के स्वरूप को समझ पाना कठिन होता है, वे यह कल्पना भी नहीं कर पाते कि उन्हीं के जैसा दिखने वाला कोई व्यक्ति परमात्मा भी हो सकता है।

किंतु जो मनुष्य भगवान के आविर्भाव को, उनके अवतरण को समझ लेता है वह सांसारिक आसक्ति से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है और शरीर छोड़ते ही भगवान के धाम में पहुँच जाता है। धर्म की स्थापना कल्प के प्रारंभ में भगवान ने की थी और पुनरस्थापना के लिए भी उन्हें आना पड़ता है। वेदों में जो नियम हैं वे भगवान के द्वारा दिए गए नियम

हैं। वेद के वचन ईश्वर के वचन हैं। जब भी कभी उन नियमों के पालन में गड़बड़ी होती है तो उसे अधर्म कहा जाता है। जब अधर्म व्यापक रूप से फैल जाता है तो भगवान लोगों को ईश्वर के प्रति निष्ठावान बनाने के लिए तथा धार्मिक नियमों के प्रति आज्ञाकारी बनाने के लिए स्वयं को पृथ्वी पर प्रकट करते हैं। उनके लिए जाति, देश व काल के लिए कोई प्रतिबंध नहीं है। वे कहीं भी, किसी भी रूप में कभी भी अपनी इच्छा से स्वयं को प्रकट कर सकते हैं।

भगवान महावीर की कथा

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले भारत की धरती पर अधर्म, अनीति व अनाचर बढ़ गए थे। धर्म गुरु तथा पुरोहित अपनी स्वार्थसिद्धि में लगे थे तथा भोली-भाली अज्ञानी जनता को मूर्ख बनाने में लगे थे। अज्ञानी जनता उन पुरोहितों के वचनों को ही ईश्वर के वचन समझने लगी थी और अधार्मिक कृत्यों को ही धार्मिक समझने लगी थी। उस समय पशुओं पर भी निर्मम अत्याचार होता था। भोली जनता से बड़े-बड़े यज्ञ कराए जाते और उनमें निरीह पशुओं की बलि दी जाती। उस समय जन साधारण को ज्ञान का प्रकाश देने की बहुत आवश्यकता थी।

ऐसे समय में वैशाली नगरी के राजा सिद्धार्थ के यहाँ उनकी रानी त्रिशला ने एक अनुपम सुंदर व तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। बालक के दाहिने पैर में सिंह का चिन्ह था। उसके जन्म लेने के बाद से ही राजा सिद्धार्थ का यश, पराक्रम तथा वैभव बढ़ने लगा, इसलिए उस बालक का नाम वर्द्धमान रखा गया। जन्म से ही वर्द्धमान के शरीर में अनेक विशेषताएँ थी। अनुपम सुंदर शरीर था. महान बल था, वाणी मधुर थी। शंख, चक्र, कमल व धनुष आदि 1008 शुभ लक्षण शरीर पर थे। बचपन से ही असाधारण ज्ञान था उनमें। जब वे आठ वर्ष के थे तभी स्वप्रेरणा से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और सीमित परिग्रह जैसे पाँच अणुव्रत धारण किए। लोगों को हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील अनाचार जैसे पापों का त्याग करने का उपदेश दिया।

एक बार संजय तथा विजय नामक दो मुनि तत्व-विषयक कुछ शंकाओं के समाधान के लिए उनके पास आए किंतु दर्शन पाते ही शंकाओं का समाधान स्वयं हो गया, उन्हें कुछ पूछना नहीं पड़ा। उन मुनियों ने वर्द्धमान का दूसरा नाम 'सन्मति' रखा।

एक दिन संगम नामक एक देव उनकी शक्ति व निर्भीकता की परीक्षा लेने के लिए एक भयंकर विषधर सर्प का रूप रखकर आया। उस समय वर्द्धमान अन्य बच्चों के साथ खेल रहे थे। बच्चे बहुत भयभीत हुए किंतु वर्द्धमान ने निर्भीकतापूर्वक सर्प के साथ क्रीड़ा की। देव बहुत प्रसन्न हुआ और उनकी स्तुति की फिर उसने उनका एक और नाम महावीर रख दिया।

जब महावीर से विवाह के लिए कहा गया तो उन्होंने कहा कि, "मैं जीवों को संसार के बंधन से छुड़ाने के लिए आया हूँ फिर गृहस्थाश्रम में क्यों पड़े? हिंसा, अनाचार, अत्याचार तथा अज्ञान को संसार से निकालने जैसा कार्य मेरे सामने है। मैं वासनाओं का दास बनकर अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं कर सकता।

कुछ काल के पश्चात् उनको तपोवन में ले जाने के लिए एक दिव्य पालकी लाई गई, जिसको स्वयं इन्द्र आदि देवताओं ने अपने कंधे पर रखा तथा महावीर को तपोवन में पहुँचाया। वहाँ पहुँचकर महावीर ने अपना सांसारिक वेष त्याग दिया और पाँच महाव्रत धारण करके आत्म ध्यान में बैठ गए। जब वे आत्म ध्यान में लीन हो जाते थे खड़े हुए अथवा बैठे हुए, उनके आसपास का वातावरण अत्यन्त पावन तथा शांत बन जाता था। हिंसक पशु की हिंसक प्रवृत्ति भी वहाँ शांत हो जाती थी।

12 वर्ष तपस्या करने के बाद वे त्रिकालदर्शी बन गए थे। उनके उपदेशों को जब जनता सुना तो जनता को धर्म का सुंदर रूप समझ में आया। सत्य का साक्षात्कार हुआ। अब ने हिंसक लोग अहिंसक तथा दयावान बन गए थे।

अंत में पावापुरी के सरोवर पर पहुँचे। वहाँ योग द्वारा देह त्याग करके सांसारिक आवागमन से मुक्ति पा ली।

6. श्लोक -

अनन्यश्चिंतयतो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।19-22।।

शब्दार्थ -

अनन्य	-	एकनिष्ठ अथवा किसी को न मानते हुए
माम्	-	मुझे
ये	-	जो
जनाः	-	लोग
तेषां	-	उनके
पर्युपासते	-	(परि + उपासते) निष्काम भाव से भजते हैं

नित्याभियुक्तानाम्	-	(नित्य + अभियुक्तानाम् निरंतर मेरा चिंतन करते हुए मुझसे एकात्म बोध रखने वाले
योगक्षेमम्	-	आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कुशलमंगल
वहामि	-	वहन करता हूँ
अहम्	-	मैं

संदर्भ - यह राजविद्या राजगुह्य योग नामक नौवें अध्याय से लिया गया बाईसा श्लोक है। इस अध्याय में ज्ञान योग का विषय है। जगत की उत्पत्ति तथा ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है। भगवान की उपासना करने वाले भक्तों के प्रकार बताए गए हैं। सकाम तथा निष्काम भक्ति के फल बताए गए हैं। निष्काम भक्त की महत्ता प्रतिपादित की गई है।

प्रसंग - पिछले अध्यायों में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान योग तथा कर्म योग की शिक्षा दी। इस अध्याय में उन्होंने पुनः उस परम् ज्ञान को समझाया जिसके अंतरगत सारे विज्ञान समा जाते हैं, जो समस्त विद्याओं का राजा है, जो पवित्र है. अति उत्तम है. प्रत्यक्ष फल देने वाला है तथा साधना करने में सरल है। भगवान श्रीकृष्ण समझाते हैं कि मैं अजन्मा हूँ, अविनाशी हूँ। पंचतत्वों का यह प्रपंच जगत अपनी इच्छा से मैंने ही रचा है। समस्त जड़-चेतन का मैं निर्माता हूँ। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व लय का मैं ही कारण हूँ। मैं सबमें तथा सब मुझमें व्याप्त हैं। कार्य को करने वाला, भोगने वाला तथा क्रिया भी मैं ही हूँ। सारा जगत मेरे ही कारण क्रियाशील है किंतु मैं कर्म के बंधन में नहीं बैंधता, मैं तो केवल साक्षी हूँ। मंदबुद्धि तथा अज्ञानी लोग मेरे परम तत्व को नहीं पहचानते और मुझे साधारण मनुष्य ही समझते हैं क्योंकि मैं उन्हीं की भाँति व्यवहार करता हुआ सा प्रतीत होता हूँ।

जो लोग मेरे परमात्म तत्व को तथा मेरी योग शक्ति को तत्वतः जान लेते हैं वे अंत में मुझे ही प्राप्त होते हैं। अलग-अलग प्रकार के भक्त मेरी अलग-अलग प्रकार से उपासना करते हैं। ज्ञानयोगी ज्ञानयोग के द्वारा मेरी उपासना करते हैं। कुछ मेरे विभिन्न

स्वरूपों की उपासना करते हैं। ये सब चाहे जिस नाम और चाहे जिस रूप में पूजा करें, वह पूजा मुझे ही प्राप्त होती है क्योंकि सभी का लक्ष्य में हूँ।

भक्त दो प्रकार के होते हैं :

1. सकाम भक्त,

2. निष्काम भक्त

सकाम भक्त फल की इच्छा से यज्ञ, उपासना आदि क्रिया करते हैं, ये भक्त शास्त्र सम्मत कार्य करते हैं और मृत्यु के पश्चात् किए गए पुण्यों का पल भोगने के लिए स्वर्ग जाते. हैं और भोग की अवधि समाप्त होने पर फिर धरती पर जन्म लेते हैं। इस प्रकार जन्म-मरण के चक्र से नहीं छूटते।

निष्काम भक्त की भक्ति का लक्ष्य फल प्राप्ति नहीं होता। वे सब कुछ ईश्वर की इच्छा पर छोड़ देते हैं। उनका प्रत्येक कार्य ईश्वर के लिए ही होता है। बंधन से मुक्त होना ही उनका लक्ष्य होता है, अतः ऐसे भक्तों पर भगवान की विशेष कृपा होती है अंत में भगवदधाम पहुँचते हैं, जहाँ से कभी वापसी नहीं होती।

श्लोक का अर्थ - इस श्लोक में भगवान ने बहुत ही महत्वपूर्ण घोषणा की है। वे कहते हैं कि जो अनन्य भाव से निरंतर मेरा चिंतन करते हैं, पूरी निष्ठा से मेरी पूजा करते हैं तथा चिंतन के द्वारा नित्य मुझसे ही जुड़े रहते हैं, उनकी सब प्रकार से आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कुशलमंगल का भार मैं वहन करता हूँ।"

व्याख्या - भगवान किस भी प्रकार का योग अथवा तप नहीं माँगते। वे तो बस इतना ही चाहते हैं कि उनमें निष्ठा रखने वाले भक्त अनन्य भक्ति भाव से उन्हें ही पूजें। अनन्य

भक्ति का अर्थ है कि किसी अन्य विचार को मन में लाए बिना एकमात्र ईश्वर का ही चिंतन, निरंतर चिंतन, समर्पण व शरण। ईश्वर में निष्ठा होनी चाहिए और उनके जिस स्वरूप में निष्ठा हो जाए, उसी स्वरूप के प्रति एकनिष्ठ रहना चाहिए। अपना सर्वस्व उनकी इच्छा पर ही छोड़ देना चाहिए।

भगवान ने अपने अनन्य प्रेमी भक्तों को विश्वास दिलाया है कि मैं तुम्हारे कुशलमंगल का भार उठाऊँगा। किंतु उन्होंने एक शर्त रखी है और वह है अनन्य चिंतन। यदि ईश्वर के अलावा अन्य किसी का चिंतन बीच में आता है तो वह पूर्ण समर्पण नहीं है।

जब व्यक्ति पर कष्ट आता है तो वह भगवान पर दोष लगाता है कि भगवान मेरी रक्षा नहीं कर रहे तब स्वयं की जाँच करनी चाहिए कि क्या उन्होंने भगवान द्वारा बताई गई सभी आज्ञाओं का पालन किया है? जब भक्त कहता है कि मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ तो उसे उन्हीं की सेवा करनी चाहिए। भक्त का प्रत्येक कार्य ईश्वर के लिए होना चाहिए, यही शरणागति हैं।

जो मनुष्य प्रत्येक प्राणी में ईश्वर का दर्शन करता हुआ, अनुभूति करता हुआ सबकी सेवा सहायता में अपना जीवन अर्पण करता है, अपने नित्य प्रति के कार्य को पूजा समझते हुए पूर्ण पवित्रता से सम्पन्न करता है, ऐसे ही भक्तों के कुशलमंगल का भार भगवान वहन करते हैं और यह भार उन्होंने स्वेच्छा से भक्तों के प्रति प्रेम के वशीभूत होकर लिया है।

कहानी

भक्त नरसी मेहता

सौराष्ट्र के जूनागढ़ नगर में नागर ब्राह्मण कुल में नरसीजी का जन्म हुआ बचपन से ही उनका मन ईश्वर में रम गया था। जहाँ भी सत्संग होता, भजन-कीर्तन होता, वहीं पहुँच

कर वे भी सम्मिलित हो जाते। उनकी इस बात से उनके परिवार के लोग नाराज हो जाते। एक बार उनकी भाभी ने उनसे व्यंग्य किया, ”ऐसी ही भक्ति उमड़ी है तो मिल क्यों नहीं आते।”

नरसी मेहता के हृदय में यह व्यंग्य बाण लग गया। वे घर से दूर एक शिवजी के मंदिर में जाकर बैठ गए। उन्होंने अन्न-जल छोड़ दिया और शिवजी की आराधना में लग गए।

अंत में भगवान शिव उनकी आराधना से प्रसन्न होकर प्रकट हुए और उनसे वरदान माँगने को कहा।

नरसी जी बोले, ”आपको जो सबसे प्रिय हो वही मुझे दीजिए।”

शंकर जी नरसी मेहता को साथ लेकर गोलोक पहुँचे और वहाँ साक्षात श्री हरि के दर्शन कराए।

भगवान शिव ने इस प्रकार भक्तों के आगे इस सत्य को रखा कि संसार में यदि सर्वश्रेष्ठ और सबसे प्रिय लगने वाले कोई हैं तो वे परमेश्वर हैं।

भगवान के आदेश से नरसी फिर पृथ्वी पर आए और भक्ति के प्रचार में जुट गए। उपयुक्त समय आने पर उनका विवाह भी हुआ और अपने बच्चों के साथ वो अलग रहने लगे क्योंकि परिवार के अन्य जनों को उनकी भक्ति पसंद नहीं आती थी। वे लोगों से कहा करते थे कि, ”जिसके हृदय में दूसरों की पीड़ा से दुःख पहुँचता है

और सेवा में तत्पर हो जाता है, वही सज्जन है। सेवा करते हुए ऐसा सज्जन कभी अपने अंदर अभिमान नहीं करता, बल्कि सबके प्रति विनयशील रहता है।

जो मन, वचन, कर्म से पवित्र है। कामनाओं-इच्छाओं से रहित है। वैराग्य जिसके मन में आ गया है। जो पराए धन पर लालच अथवा ईर्ष्या नहीं करता। समस्त नारी जाति को वंदनीय समझता है, निष्कपट है और जिसके मन में राम के प्रति निरंतर प्रीति है. उसे अपनी चिंता नहीं सताती। श्री हरि को ही अपने उस भक्त की चिंता रहती है।

इसी तरह के वचनों को कहते और भजन-कीर्तन में लगे रहते। घर की चिंता उन्हें नहीं रहती थी। वे कहते कि, "श्याम सुंदर को जो करना होगा, स्वयं करेंगे।"

श्रीकृष्ण में उनका इतना पक्का विश्वास था कि उस विश्वास की आन रखने के लिए नरसी मेहता के कई सांसारिक कार्यों को स्वयं भगवान ने निबटाया। भगवान को ही उनकी पुत्री का विवाह करना पड़ा। विवाह के लिए सब सामग्री पहुँचाई

और स्वयं उपस्थित होकर सब काम किए। उनके पुत्र का भी विवाह कराया। इस प्रकार के अनेक चमत्कार उनके जीवन में होते रहे। भगवान श्री द्वारकानाथजी ने उनकी हुंडी के रुपए भी भरे।

एक बार अपने पिताजी के श्राद्ध के दिन नरसी मेहता कुछ सामान खरीदने बाजार गए, मार्ग में कुछ संतों को कीर्तन करते देखा तो स्वयं भी कीर्तन में लग गए और घर लौटना ही भूल गए।

उस दिन स्वयं भगवान ने नरसी का रूप धारण किया और उनके घर पर सब ब्राह्मणों को भोजन कराते रहे। एक बार किसी ने हठ की कि यदि नरसी मेहता इतने महान भक्त है तो भगवान की यह मूर्ति उनके गले में हार डाल दे। अपने भक्त की लाज रखने के लिए भगवान ने यह भी कर दिखाया।

ऐसे ही हैं भगवान जो परम दयालु हैं। अपने अनन्य प्रेमी भक्तों के लिए, उनके रक्षण के लिए भागे-भागे आते हैं। उनकी कुशल-मंगल का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। ऐसा भक्त शरीर छोड़ने पर उन्हीं में लीन हो जाता है।

सम्पूर्ण गीता का सार यही है कि पूरी निष्ठा से, प्रेम से. ईश्वर की अनन्य उपासना की जाए, अनन्य भक्ति की जाए और एकमात्र ईश्वर के आदेशों का पालन किया जाए। विशुद्ध भक्ति मनुष्य को संसार से शीघ्र ही पार लगा देती है।

ॐ शांति शांति शांति

"ऐश्वर्य को ईश्वर की भाँति पूजा जाता है। अहंकार स्वभाव बन गया है। स्वार्थ मनुष्य के मानस में घर कर गया है। दंभ का प्रदर्शन होता है और इच्छाएँ अलंकरण बन गई हैं। धर्माचरण संसार में मात्र मुखौटा बन गया 1. है। करुणा सूख गई है। नम्रता कम हो गई है। आडम्बर जीवन का मुख्य अंग बन गया है। प्रेम और स्नेह वासनापूर्ण रोग बन गए हैं। शास्त्रों का सम्मान नहीं होता। जीवन भार हो गया है और मनुष्य का मन भटक 1. गया है। कृतज्ञता का गुण लुप्त हो गया है। कलियुग में 1. ये शिक्षित लोगों के लक्षण बन गए हैं। उफ! जब मनुष्यता इतनी गिर गई है तो मैं मनुष्य के हाल के बारे में क्या कहूँ?"

"छात्रों को अपने देश, अपने लोग और अपनी संस्कृति के प्रति गर्व का अनुभव करने की शिक्षा मिलनी चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिए कि चरित्र के बिना धन और बल मूल्यहीन हैं।"

श्री सत्य साई बाबा